विषय-सूची

दो शब्द

प्रस्तुत संग्रह के प्रकाशक महोदय (मेहराजी) गत गर्मियों की छुट्टी में मई मास में पूज्य पिताजी के पास इस प्रकार के संग्रह को प्रकाशित करने की इच्छा लेकर आये थे। पिताजी कार्य-भार से इतने शिथिल हो गए थे कि तत्काल उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। इनके जाने के बाद मुझसे बातचीत हुई और मैंने उनसे इसे स्वीकार कर लेने का प्रस्ताव किया। उन्होंने कहा कि मेरे किये न होगा और तुम तो कुछ करोगे नहीं। इसी प्रकार के शब्दों को कह कर वे मुझसे काम लिया करते थे। अस्तु, प्रस्तुत संग्रह जुलाई में तैयार होगया और भेज दिया गया। उनके आदेशानुसार ६ निबंध इसमें रखे गए जिनका परिचय बाबूजी सम्बन्धी लेख के अन्तिम खण्ड में दिया हुआ है।

मेहराजी इस संग्रह की पाण्डु लिपि पाकर मुद्रण की व्यवस्था करने काशी आये और ६ अगस्त सोमवार को मुझसे मिले। बाबू जी अस्वस्थ थे ही, बातचीत करने में असमर्थ थे। मेरे द्वारा बातचीत हुई और प्रूफ आदि देखने तथा आवश्यक परिवर्तन करने का भार मुझ पर डाला। परन्तु पुस्तक की भूमिका लिखने का प्रश्न बाकी पड़ा रहा। डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आये। इनसे उन्होंने इस काम के लिए कहा। इन्होंने तत्काल स्वीकार किया। बाबू जी के जीवन के अन्तिम दिवस रात्रि में दोनों महाशय एक दूसरे के बाद आये। दोनों से बाबूजी ने इसका तगादा किया। दोनों ने उनको आश्वासन दिया कि तैयार हो रहा है। नंददुलारेजी ने तो यहाँ तक कहा कि कल लेता आऊँगा। रात्रि को १० बजे शर्माजी से कहा। उन्होंने भी कहा कि तैयार हो रहा है। इस कथन से उन्हें विशेष शान्ति मिली थी, क्योंकि

साहित्य वाचस्पति रायबहादुर
डाक्टर श्यामसुन्दरदास

(१)
जीवन-वृत्त

किसी व्यक्ति के कर्तृत्व की महत्ता केवल इस बात से नहीं होती कि जीवन में उसने कैसे-कैसे कार्य किए, उनमें उसे कितनी सफलता मिली अथवा कितने उत्साह और सद्भाव से उसने अपने दायित्व का निर्वाह किया; वरन् यह विचार करना आवश्यक होना चाहिए कि कैसे समय में, किन परिस्थितियों मे और किन साधनों से उसने उद्योग किया। इस आधार पर स्वर्गीय साहित्य वाचस्पति रायबहादुर डाक्टर श्यामसुन्दरदास के यदि उन कार्यों का विचार किया जाय, जिनके कारण उनके जीवन का महात्म्य है, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि बिना सच्चे उत्साह, अखण्ड विश्वास और विशिष्ट व्यक्तित्व के ऐसे दायित्व-पूर्ण कार्य-कलाप इतनी सफलता से सम्पादित नहीं किए जा सकते। अपने जीवन के पचास वर्षों में उन्होंने साहित्य और भाषा के विविध अवयवों का ऐसा संवर्धन किया कि आज उन्हें जिस गति और शक्ति की आवश्यकता पड़ रही है उसे वे योग्यतापूर्वक अङ्गीकार करने में सर्वथा सफल हैं। ऐसा करने में श्यामसुन्दरदासजी को अनेक विषम स्थितियों का सामना करना पड़ा था।

बीस वर्ष की अवस्था में जिस समय बाबू साहब ने हिंदी साहित्य की सेवा का दायित्व अपने ऊपर लिया उस समय हिंदी भाषा का कोई अपना गौरव नहीं था। "इस समय हिंदी की बड़ी बुरी अवस्था थी; वह जीवित थी यही बड़ी बात थी। हिंदी का नाम लेना भी इस समय पाप समझा जाता था। कचहरियों में इसकी बिल्कुल पूछ नहीं

थी। पढ़ाई में केवल मिडिल क्लास तक इसको स्थान मिला था। पढ़ने वाले विद्यार्थियों में अधिक संख्या उर्दू लेती थी। परीक्षार्थियों में भी उर्दू वालों की अधिक संख्या रहती थी।……हिंदी बोलने वाला तो गँवार कहा जाता था। वह बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था…।" ऐसे प्रतिकूल वातावरण में बाबू साहब ने हिंदी के समुद्धार का प्रश्न उठाया था। उन्हें अपनी अन्तर्प्रेरणा पर सदैव विश्वास बना रहता था। इसी के बल पर ऐसे विषम काल में भी उन्होंने भाषा संबंधी आन्दोलन व्यापक रूप से आरम्भ किया। उन्हें अपने अध्यवसाय, सच्चाई और कार्यकुशलता पर विश्वास बना रहा। समय-समय पर सहयोगियों और सुअवसरों का योग मिलता गया और वे सफलता की ओर वेग से बढ़ते चले गए।

उनके सामाजिक और साहित्यिक जीवन का आरम्भ उस समय से समझना चाहिए जब १६ जुलाई सन् १८९३ में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा को जन्म देकर स्वर्गीय बाबू साहब और उनके सहायकों ने हिंदी भाषा और साहित्य के उत्कर्ष और अभ्युत्थान में जो योग दिया है, वह इतिहास में सदैव अमर एवं उद्योग तथा अध्यवसाय का ज्वलन्त उदाहरण बना रहेगा। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन जैसी संस्था और 'सरस्वती' जैसी पत्रिका का सूत्रपात भी इसी सभा ने अथवा श्यामसुन्दरदासजी ने ही किया था जो अपने-अपने ढंग से पल्लवित, पुष्पित और फलित होकर हिन्दी की बहुमुखी उन्नति में निरंतर योग देती आई है।

नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना से लेकर सन् १९०३ तक दस वर्षों में ही बाबू साहब ने हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रसार के लिए जो कुछ किया वह इतना भव्य और उत्साहवर्द्धक था कि स्वर्गीय पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने थोड़े में उनकी प्रशंसा इस प्रकार की थी—"जिन्होंने बाल्यकाल ही से अपनी मातृभाषा हिंदी में अनुराग प्रकट किया, जिनके उत्साह और अश्रान्त श्रम से नागरी-प्रचारिणी

सभा की इतनी उन्नति हुई, हिंदी की दशा सुधारने के लिए जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधुवाद दिए बिना नहीं रहा जाता, जिन्होंने विगत दो वर्षों में इस पत्रिका के सम्पादन कार्य को बड़ी योग्यता से निबाहा उन विद्वान बाबू श्यामसुन्दरदास के चित्र को इस वर्ष के आदि में प्रकाशित करके 'सरस्वती' अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती है।" उस चित्र के नीचे छपा था—"मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी. ए. पास। सौम्य शीलनिधान, बाबू श्यामसुन्दर दास।"

इन्हीं दस वर्षों के भीतर स्वर्गीय डाक्टर दास ने उन महत् कार्यों का भी सूत्रपात किया जिनके कारण हिंदी प्रचार का कार्य सुदृढ़ नींव पर खड़ा हुआ और यथार्थतः साहित्य का अंकुरण हो सका। न्यायालयों में हिंदी प्रचार (सन् १९००), वैज्ञानिक शब्दकोश का अधिकांश निर्माण, हिंदी के लेख तथा लिपि प्रणाली की व्यवस्था पर विचार (सन् १८९८), हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज के लिए धन एकत्र करना (सन् १८९९), आर्य भाषा पुस्तकालय की स्थापना, रामचरित-मानस की प्रामाणिक टीका का प्रकाशन (सन् १९०३), सभा-भवन का निर्माण (सन् १९०२) इत्यादि सभी कार्य प्रायः साथ ही साथ आरंभ हुए। उक्त कार्यों के संपूर्ण संवर्धन का श्रेय बाबू साहब को प्राप्त था। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने में जो नाना प्रकार की कौटुम्बिक, आर्थिक, सामाजिक तथा साहित्यिक अड़चनें मार्ग में आईं उनका जैसा सामना उन्होंने किया उसमें उनकी कर्म-निष्ठा, उत्साह, निर्भीकता, विश्वास-बल और अकथ परिश्रम का प्रमाण प्राप्त है। इन संघटन और सम्पादन-कार्यों के अतिरिक्त इसी काल के भीतर उन्होंने रचना का श्रीगणेश किया और बीसों लेख लिखे जो 'सरस्वती' के आरम्भिक वर्षों में प्रकाशित हुए थे।

इसके अनंतर बाबू साहब के कृतित्व, एकरसता और अपार क्षमता का पूरा-पूरा परिचय देनेवाला अभूतपूर्व ग्रंथ 'शब्दसागर' है। बीसों वर्ष (सन् १९०७ से लेकर १९२९) तक एकनिष्ठ होकर इसके

लिए उन्हें तपस्या करनी पड़ी थी। वह समय उनकी साहित्यिक साधना का था। विविध योग्यता और रुचि-अरुचि के अनेक विद्वानों को संघटित करके उनसे काम लेते रहना, स्थान-स्थान पर दौड़ कर धन का संचय करते चलना, ग्रंथ के संपादन और प्रकाशन में लगे रहना—दैवी प्रेरणा अद्भुत धैर्य का काम का था। इस ग्रंथ में लाखों के करीब शब्दों का परिचय है और इसके प्रकाशन में लाखों के करीब रुपये भी व्यय हुए हैं। इसे बाबू साहब के जीवन का सार-भूत स्तम्भ कहना चाहिए। इसे प्रकाशित देखकर अनेकानेक देशी और विदेशी पण्डितों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। केवल एक यही ग्रंथ उनकी कीर्ति को अमर बनाने के लिए यथेष्ट है। ग्रंथ की समाप्ति पर उनके अभिनंदन के रूप में इन्हें जो कोशोत्सव-स्मारक संग्रह समर्पित किया गया उसके अग्रलिखित शब्दों में उनकी कृति का उचित ही बखान है—"अपने जन्मदाता श्रीयुत बाबू श्यामसुन्दरदास बी०ए० को—जिनके परिश्रम, उद्योग और बुद्धिबल तथा जिनके संपादन में हिंदी भाषा का सबसे बड़ा कोश हिंदी शब्दसागर प्रस्तुत हुआ, उनके सम्मानार्थ तथा कीर्ति रक्षार्थ काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा निवेदित"। इसी ग्रंथ की भूमिका के प्रसंग में बाबू साहब ने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' सन् १९३० में लिखा था। इस ग्रंथ में किसी काल के कवियों की चुनी कविताएँ संग्रहीत नहीं हैं और न व्यक्तिगत रूप में उनके प्रति कोई मत ही प्रकट किया गया वरन् भिन्न-भिन्न कालों की सामूहिक प्रवृत्तियों का विवेचन और वर्णन ही लक्ष्य रखा गया है। इसके अतिरिक्त इसी समय पचासों अन्य अनेक ग्रंथों का सम्पादन और उनके सुचारु रूप से छपाने की व्यवस्था भी वे करते रहे।

बाबू साहब के साहित्यिक जीवन का अभोग युग सन् १९२१ से आरंभ हुआ जब वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में आए। इसे अभोग युग इसलिए कहना चाहिए कि इसके पूर्व का काल अनवरत श्रम, संघर्ष, प्रयत्न, चिंता और तपस्या में बीता था और अब उन्हें अपनी साधना एवं कृति को सजाने का अवसर मिला। यों तो दायित्वपूर्ण

संघटन और उद्योग से अभी भी पीछा नहीं छूटा था, परन्तु गति में अब उतना आवेग नहीं रह गया था। जब से उन्होंने विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग का सूत्र अपने हाथ में लिया उस समय से उनका शारीरिक श्रम कुछ कम हो गया था और उनके कौटुम्बिक जीवन की वस्तुस्थिति भी अपेक्षाकृत कुछ अनुकूल हो गई थी। अतएव वे कुछ शांति का अनुभव करने लगे थे। इस समय शारीरिक गति में अवश्य कुछ स्थिरता आई पर अभी भी काम और दायित्व कम नहीं था।

हिंदू विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग अपने ढंग का सर्वप्रथम विभाग था। इसलिए उसके संघटन और संचालन की व्यवस्था में विशिष्ट क्षमता की अपेक्षा थी। बाबू साहब ने अपने अनुभव के बल और सुबुद्धि से इस अपेक्षा की पूर्ति बड़ी तत्परता से की और अपने कार्यकाल के अंत तक बड़ी कुशलता एवं सफलता से अध्यक्ष पद का निर्वाह किया था। इस क्षेत्र में भी आकर उन्हें नवीन समस्याओं का सामना करना पड़ा। ऊँची से ऊँची कक्षाओं में अध्ययन-अध्यापन की विधि-प्रणाली का कोई रूप अभी तक स्थिर नहीं हुआ था, नए अध्यापकों की शिक्षण-पद्धति में गाम्भीर्य-युक्त एकस्वरता उत्पन्न करना आवश्यक था। नव-नव पाठ्यग्रंथों का वर्गीकरण ही नहीं वरन् उनकी रचना करनी और करानी थी। पठन-पाठन के साथ-साथ परीक्षा की योग्यता का स्तर सुनिश्चित करना अनिवार्य हो उठा। इस क्षेत्र में आकर भी उन्हें नव-निर्माण का ही दायित्व अँगेजना पड़ा। फिर भी जिस सचाई, संलग्नता, योग्यता और प्रेम के साथ उन्होंने इन लक्ष्यों की प्राप्ति की वह आदर्श हिंदी के वर्तमान कर्णधारों के लिए अनुकरण का विषय है।

इस कार्यकाल में आवश्यकतानुसार उन्होंने कई उपादेय ग्रन्थों का निर्माण किया, जैसे—भाषा विज्ञान, रूपक रहस्य (१६३१), साहित्यालोचन (१६२२)। ये ग्रंथ अवश्य ही ऐसे विषयों पर हैं जो ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के पठन-पाठन के लिए नितांत आवश्यक थे। इन

पर पाश्चात्य साहित्यों में तो प्रभूत रचनाएँ प्राप्त थीं परंतु हिंदी भाषा में उस समय तक कुछ नहीं था। इसलिए विचारशील आचार्य ने अपने दायित्व का अनुभव किया और इस न्यूनता के उच्छेदन में जुट गए। उक्त ग्रंथों के साथ-साथ उनकी अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित होती रहीं, जैसे हिंदी भाषा का विकास, गद्य-कुसुमावली, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १९२७), गोस्वामी तुलसीदास (सन् १९३१)। इनके अतिरिक्त इसी समय में इन्होंने अनेक अन्य ग्रन्थों का भी संग्रह और संपादन किया और बहुत से लेख भी लिखे जो प्रायः विद्यार्थियों के लिए उपयोगी थे।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पचास वर्षों तक श्यामसुन्दर-दासजी एकरस और एकचित्त होकर हिंदी और साहित्य का निर्माण एवं पोषण करते रहे। इतना ही नहीं, न जाने कितनों को उन्होंने साहित्यिक बना दिया, न जाने कितनों को लेखक और अध्यापक बनाया। उन्हें निरन्तर वर्तमान का सर्जन और भविष्य का स्पष्टीकरण करते बीता। हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग का संघठन करके अथवा काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की सृष्टि-संवर्द्धन करके उन्होंने अपने को ही नहीं वरन् संपूर्ण जगत को अमरत्व प्रदान किया है। हिंदी-प्रसार और साहित्य के गत पचास वर्ष उनके कृतित्व के जीवित इतिहास हैं। महाकवि मैथिलीशरणजी के शब्दों में नितान्त यथार्थ ही है—

"हिंदी के हुए जो विगत वर्ष पचास।
नाम उनका एक ही है श्यामसुन्दरदास॥"

---

(२)

चरित्र और प्रकृति

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनके जीवन-वृत्त से कहीं अधिक आकर्षण उनके व्यक्तिगत वृत्त में दिखाई पड़ता है। उनके स्वभाव और प्रकृति में कुछ ऐसा निरालापन अवश्य मिलता है जिसके कारण उनका व्यक्तित्व साधारण स्तर से कहीं अधिक ऊपर उठा है। इस स्वभाव-प्रकृति का भी विकास होता चलता है और जीवन की धारा में जो नाना प्रकार की स्थितियों और वातावरण का निरंतर संघर्ष चला करता है, उसी के बीच से चलकर उसका रूप स्थिर होता है, इसीलिए इसका उस पर और उसका इस पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य के चरित्र-प्रकृति और उसके जीवन की विभिन्न दशाओं में एक अटूट योग बना रहता है और दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध स्थापित हो जाता है। स्वर्गीय श्यामसुन्दरदासजी का जीवन आद्यन्त संघर्ष और संघटन का क्रीड़ा-क्षेत्र बना रहा; साथ ही उन्होंने अपने क्षेत्र में बड़े ही महत्त्वपूर्ण कार्यों का संपादन किया, इससे उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र की विशेषताओं की आलोचना आवश्यक है।

बाबू साहब का संपूर्ण जीवन सुंदर और महत्त्वपूर्ण कार्यों में समाप्त हुआ है। उनकी अभिरुचि सदैव ऐसे विषयों की ओर रही है जो यश और कीर्ति के कारण थे। उनकी संपूर्ण विचारधारा ऊर्ध्वगामी थी। बाधाओं से लड़ने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। उनका सारा जीवन संघर्ष करते बीता। यह संघर्ष बहुमुखी था। पारिवारिक वातावरण कलह और अशांतिपूर्ण था; समाज की कठोरताओं और रूढ़ि-प्रेम के कारण भी समय-समय पर उन्हें चिंता का सामना करना पड़ा था; साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्हें विभिन्न अवसरों और प्रसंगों पर अनेक व्यक्तियों के आक्षेपों

एवं विरोधों का आघात सहना पड़ा था। इसलिए निरंतर विरोध और चिंताग्रस्त स्थितियों में पड़ने के कारण उनमें एक प्रकार की कर्कशता और रूक्षता उत्पन्न हो गई थी। समयानुसार उसीका अनेक रूप में प्रदर्शन दिखाई पड़ता है। इसी कर्कशता के परिणामरूप उनमें निर्भीकता और स्पष्टवादिता का अक्खड़ रूप भी उत्पन्न हो गया था। किसी-किसी अवसर पर उसका अनुकूल और कहीं-कहीं प्रतिकूल परिणाम उन्हें मिलता रहा है। यों तो स्पष्टवादी और निर्भीक होना चरित्र का गुण है पर उन्हीं गुणों ने बाबू साहब को प्रायः अप्रियभाषी भी बना दिया था और उन्हें सभी संस्थाओं में सदैव किसी न किसी विरोधी दल का सामना करते बीतता था।

उनके चरित्र की प्रमुख विभूतियाँ तीन थीं—दृढ़ता, आत्मविश्वास और स्वावलंबन। इनके विकास का भी व्यक्तिगत कारण था। परिवार में ये सबसे बड़े भाई थे, मित्र-मण्डली में भी अपनी कर्मनिष्ठा के कारण नेता बने रहे और साहित्य के क्षेत्र में तो आजन्म नेतृत्व ही करते रहे। सर्वत्र उन्हें अपने विचारों को स्थिर करके विश्वास के साथ काम करना पड़ता था इसलिए अपनी ही शक्ति पर विशेष बल देने का अभ्यास हो गया था। आत्मविश्वास और स्वावलंबन के अनुसारी परिणाम रूप में जो उन्हें निरंतर सफलता मिलती गई उसके कारण उनमें कर्तृत्व-ज्ञान और गर्वानुभूति की मात्रा भी प्रबल होती गई। यह ज्ञानानुभूति उनके व्यक्तित्व की प्राण-चेतना थी; इसी कारण उनमें अपूर्व तेजस्विता आगई थी और उनके प्रतिद्वन्द्वी तक उनसे सशंक और भयभीत रहा करते थे; बहुतों को तो विरोध करने का भी साहस नहीं होता था। व्यक्तित्व का ऐसा भव्य स्वरूप पुण्य और साधना का ही प्रसाद मानना चाहिए।

पर इस विभूति ने उनमें एक दोष भी उत्पन्न कर दिया था; वे किसी की अध्यक्षता में कार्य नहीं कर सकते थे। इसी दोष के कारण किसी एक नौकरी पर वे अधिक काल तक टिक नहीं सके। यहाँ एक बात स्मरण रखने योग्य है; कहीं से किसी ने उन्हें हटाया नहीं; वे स्वयं

या तो स्थिति प्रतिकूल होने के कारण अथवा सम्मान का अभाव देखकर पृथक् होते गए। स्थिर होकर अन्त तक वे विश्वविद्यालय में ही रहे। इसका स्पष्ट कारण यही था कि वहाँ केवल उन्हीं का नेतृत्व, संघटन और शासन था। अपने शासन-क्षेत्र में किसी का हस्तक्षेप वे सहन नहीं कर पाते थे और अपने उन सहायकों की रक्षा भी करते थे जो उनका नियंत्रण और शासन मानते थे। यों तो संरक्षकता की वृत्ति उनकी बहुत ही व्यापक और उदार रही है पर विशेषतः उन लोगों पर उनकी कृपा-दृष्टि बहुत अनुकूल रहती थी जिनमें साहित्यिक अभिरुचि तथा प्रतिभा का आभास दिखाई देता था। ऐसे आदमी को पहचान लेने की अद्भुत क्षमता उनमें अन्त तक बनी रही। रुचि-अरुचि के विचार से वे ढुलमुल नीति के थे। आज किसी पर यदि विशेष प्रसन्न है तो कल तनिक में घोर रुष्ट हो जाते थे। किसी विषय में आज यदि एक विचार है तो कल और कुछ। साधारणतः विचार करने से यह प्रशंसनीय नीति नहीं कही जा सकती पर बाबू साहब के साथ यह गुण की बात बन गई थी। यों तो अपनी बात पर अड़ जाने की आदत उनमें थी पर विशेष कर वे जिद् तभी पकड़ते थे जब उन्हें अपनी सम्मान-रक्षा में कुछ आशंका हो उठती थी। तर्क और बुद्धि के बल पर जहाँ तक वे अपनी बात पर अड़ सकते थे, अड़े रहते थे, पर यदि विरोधी पक्ष के तर्क से वे परास्त हो जाते थे तो सुधार स्वीकार करने में भी संकोच नहीं करते थे। दुराग्रह का रोग उनमें नहीं था।

एक लक्ष्य को लेकर किस प्रकार एकरस होकर अपने सारे जीवन को उसकी सिद्धि में अर्पित कर देना चाहिए इस बात का सच्चा उदाहरण बाबू साहब का जीवन है। हिंदी के समुद्धार का जो बीड़ा उन्होंने स्वीकार कर लिया था उसके दायित्व का निर्वाह प्राण रहते तक उन्होंने किया। मृत्यु के चार घंटे पहले तक उन्हें अपने निबंधों के संग्रह के प्रकाशन की चिंता बनी रही। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा, हिंदी-पुस्तकों की खोज और शब्दसागर उनके मनोयोग के सुंदरतम प्रमाण हैं।

विविध प्रकार के प्रलोभन और आकर्षण रहने पर भी सभा को छोड़कर उन्होंने न तो किसी अन्य संस्था का कार्यभार कभी स्वीकार किया और न किसी अन्य लक्ष्य को ही अपनाया। जितना भी शारीरिक और बौद्धिक बलबूता उनमें था उसे उन्होंने सभा के द्वारा ही प्रकट किया। एक आदमी के कर्तृत्व स्वरूप एक संस्था इतने प्रसारगामी कार्य-व्यापार का संपादन कर सकती है यही आश्चर्य का विषय है। इस प्रसंग में बाबू साहब के चरित्र की मुख्य विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। धैर्य, अध्यवसाय, कष्टसहिष्णुता, सूक्ष्म, तत्पर बुद्धि, उत्साह और अथक श्रम इत्यादि अनेक गुण उनमें थे और इनके प्रयोग का क्रीड़ाक्षेत्र था साहित्य-संसार। उनकी यह प्रकृति थी कि एक बात निश्चित हो जाने पर उसके पीछे पड़ जाते थे; जब तक उसे सिद्ध नहीं कर लेते थे वे सांस नहीं लेते थे। जो उनके वेग के साथ दौड़ पड़ते थे वे उनको भाते थे और जो ढीलढाल करने लगते थे उनके विरोध और अरुचि के विषय बन जाते थे।

बहुमुखी संघर्षों के घात-प्रतिघात में पड़े रहने के कारण उनके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में एक प्रकार का चौकन्नापन पैदा होगया था। इसलिए वह किसी का विश्वास तब तक नहीं करते थे जब तक कि उसके लिए अनुकूल प्रमाण न मिल जाय। तब तक उसे अंतरंग भी नहीं बनाते थे और न अपने मंतव्य ही उसके सम्मुख प्रकट करते थे। नेता की भाँति भिन्न-भिन्न दशाओं में दूसरों को सहायता देते और दूसरों से काम लेते रहे। नियंत्रण और संघटन करना, अपने संरक्षण में पड़े हुए साहित्यिकों और विद्यार्थियों को काम देना और पूरा कराना उनका मुख्य व्यापार था। अतएव अन्यकृत उपकारों की व्याप्ति के विषय में उन्हें प्रायः भ्रांति हो जाया करती थी और वे अन्य-कृत उपकारों की उपेक्षा कर जाया करते थे। कभी-कभी उनके प्रिय लोग भी इस दोष के कारण दुखी हो बैठते थे। निरंतर नायकत्व का आभोग करते रहने से अपने साथवालों को नियम इत्यादि के अनुसार

चलाते रहने से उनमें निर्दिष्ट समय में, निश्चित नियमानुसार, मर्यादा-पूर्ण ढंग से काम करने और कराने का प्रेम उत्पन्न हो गया था। इसी-लिए उनमें अनुशासन प्रेम और मर्यादा का विचार विशेष रूप से बढ़ा था। स्पष्टवादिता के साथ मिलकर यही अनुशासन-प्रियता उनको भयप्रद बनाये रहती थी, उनकी अध्यक्षता में पढ़ने-लिखने वाले विद्यार्थी और उनके संरक्षण में कार्य करने वाले उनके सहायक उनसे सशंक एवं सजग रहा करते थे। चरित्र की ये सभी विशेषताएँ प्राय: बुद्धि प्रधानता की सूचक हैं। बाबू साहब के संपूर्ण जीवन की यदि विधिवत् मीमांसा की जाय तो इतना अवश्य स्पष्ट होगा कि उनमें जितनी बुद्धि की प्रबलता थी उतनी भावुकता-परक सहृदयता की नहीं। थोड़े में कहा जा सकता है कि उनका जीवन ऊर्ध्वगामी बुद्धि का वैभवपूर्ण प्रदर्श था।

डाक्टर श्यामसुन्दरदास का व्यक्तित्व कृतित्व के कारण आदरणीय, अनुभव के कारण गांभीर्यपूर्ण और साहित्यिक साधना के कारण भव्य था। उनकी बातचीत में सफाई, रहन-सहन में सफाई, जीवन और चरित्र में सफाई—सभी ओर से शुद्धता तथा सुस्पष्टता का आभास मिलता था। हिन्दी साहित्य के सर्जन और संवर्द्धन करनेवालों की श्रेणी में बाबू साहब का व्यक्तित्व बेजोड़ था।

साहित्यिक कृति

बाबू साहब की साहित्यिक कृति का भी एक इतिहास है। उनकी साहित्यिक कृतियों को ६ विभागों में बाँटा जा सकता है—

क्रमशः (१) मौलिक रचनाएँ, (२) संपादित ग्रंथ, (३) संकलित ग्रंथ, (४) पाठ्य पुस्तकें, (५) लेख, (६) वक्तृताएँ। इनकी सूची इस प्रकार है। कोष्ठों में दी हुई संख्या उन ग्रंथों के प्रकाशित होने की तिथि है।

(१) मौलिक रचनाएँ—

1—Nagari Character (1896), 2—7, Annual Report on the Search of Hindi Manuscripts for 1900 (1903), 1901 (1904), 1902 (1906), 1903, (1905), 1904 (1907), 1905 (1908).

8—First Triennial Report on the Search of Hindi Manuscripts for 1996—8 (1912)

९—हिन्दी कोविद रत्नमाला भाग १ और २ (१९०९, १९१४)।

१०—साहित्यालोचन (१९२२, १९३७, १९४१, १९४३)।

११—भाषा विज्ञान (१९२३, १९३८, १९४५)।

१२—हिंदी भाषा का विकास (१९२४)।

१३—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (१९२३)।

१४—गद्यकुसुमावली (१९२५)।

१५—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१९२७)।

१६—हिंदी भाषा और साहित्य (१९३०, १९३७, १९४४)

१७—गोस्वामी तुलसीदास (१९३१, एकाडमी)।

१८—रूपक रहस्य (१९३१)।

१६—भाषा रहस्य १ भाग (१६३५)।
२०—हिंदी के निर्माता भाग १ और २, (१६४०-४१)।
२१—मेरी आत्मकहानी (१६४१)।
२२—गोस्वामी तुलसीदास (१६४०, इ० प्रेस)।

(२) संपादित ग्रंथ—

१—चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान (१६०१)।
२—छत्रप्रकाश (१६०३)।
३—रामचरित मानस (१६०४, १६१६, १६३६)।
४—पृथ्वीराज रासो (१६०४-१२)।
५—हिंदी वैज्ञानिक कोश (१६०६)।
६—वनिता-विनोद (१६०६)।
७—इंद्रावती भाग १ (१६०६)।
८—हम्मीर रासो (१६०८)।
९—शकुन्तला नाटक (१६०८)।
१०—प्रथम हिंदी साहित्य सम्मेलन की लेखावली (१६११)
११—बाला विनोद (१६१३)।
१२—हिंदी शब्दसागर खंड १-४ (१६१६-२६)।
१३—मेघदूत (१६२०)।
१४—दीनदयालगिरी ग्रंथावली (१६२१)।
१५—परमाल रासो (१६२१)।
१६—अशोक की धर्मलिपियाँ (१६२३)।
१७—रानी केतकी की कहानी (१६२५)।
१८—भारतेन्दु नाटकावली (१६२७)।
१९—कबीर ग्रंथावली (१६२८)।
२०—राधाकृष्ण ग्रंथावली (१६३०)।
२१—सतसई सप्तक (१६३०)।

२२—द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ (१९३३)।
२३—रत्नाकर (१९३३)।
२४—बाल शब्दसार (१९३५)।
२५—त्रिधारा (१९४५)।
२६—नागरी-प्रचारिणी पत्रिका १-१८ भाग।
२७—मनोरंजन पुस्तकमाला १-५० संख्या।
२८—सरस्वती (१९००, १९०१, १९०२)।

(३) संकलित ग्रंथ—

१—मानस सूक्तावली (१९२०)।
२—संक्षिप्त रामायण (१९२०)।
३—हिंदी निबंधमाला भाग १-२ (१९२२)।
४—संक्षिप्त पद्मावत (१९२७)।
५—हिंदी निबंध रत्नावली भाग १ (१९४१)।

(४) पाठ्य पुस्तकें (संग्रह)—

१—भाषा सार संग्रह भा० १ (१९०२)।
२—भाषा पत्रबोध (१९०२)।
३—प्राचीन लेख मणिमाला (१९०३)।
४—आलोक चित्रण (१९०२)।
५—हिंदी पत्र लेखन (१९०४)।
६—हिंदी प्राइमर (१९०५)।
७—हिंदी की पहली पुस्तक (१९०५)।
८—हिंदी ग्रामर (१९०६)।
९—गवर्नमेंट आव इण्डिया (१९०८)।
१०—हिंदी संग्रह (१९०८)।
११—बालक विनोद (१९०८)।
१२—सरल संग्रह (१९१९)।

१३—नूतन संग्रह, (१६१६)।
१४—अनुलेख माला (१६१६)।
१५—नई हिंदी रीडर भाग ६, ७ (१६२३)
१६—हिंदी संग्रह भाग १, २ (१६२५)।
१७—हिंदी कुसुम संग्रह भाग १, २ (१६२५)।
१८—हिंदी कुसुमावली (१६२७)
१६—Hindi Prose Selection (१६२७)।
२०—साहित्य सुमन भाग १-४ (१६२८)।
२१—गद्य रत्नावली (१६३१)
२२—रसाहित्य प्रदीप (१६३२)।
२३—हिंदी गद्य कुसुमावली भाग १, २, (१६३६, १६४५)।
२४—हिंदी प्रवेशिका पद्यावली (१६३६, १६४२)।
२५—हिंदी प्रवेशिका गद्यावली (१६३६, १६४२)।
२६—हिंदी गद्य संग्रह (१६४५)।
२७—साहित्यिक लेख (१६४५)।

(५) लेख एवं निबंध—

१—संतोष (१८६४)।
२—भारतवर्षीय आर्य भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर संबंध ... (१८६४)।
३—नागर जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति (१८६४)।
४—पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा (१८६८)।
५—भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच (१८६८)।
६—शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध (१८६६)
७—जंतुओं की सृष्टि (१६००)।
८—शमशुल उल्मा मौलवी सैयद अली बिलग्रामी (१६००)।

९—पंडितवर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (१९००)।
१०—दानी जमशेद जी नौशेरवां जी ताता (१९००)।
११—भारतवर्ष की शिल्प शिक्षा (१९००)।
१२—वीसलदेव रासो (१९०१)।
१३—भारतेश्वरी महारानी विक्टोरिया (१९०१)।
१४—हिंदी का आदि कवि (१९०१)।
१५—शिक्षा (१९०१)।
१६—फतेहपुर सीकरी (१९०१)।
१७—नीति शिक्षा (१९०२)।
१८—कर्त्तव्य और सत्यता (१९०२)।
१९—मुद्राराक्षस (१९०२)।
२०—रासो शब्द (१९०२)।
२१—यूनिवर्सिटी कमिशन (१९०२)।
२२—लाला ब्रज मोहन लाल (१९०२)।
२३—नागरी अक्षर और हिंदी भाषा (१९०२)।
२४—दिल्ली दरबार (१९०३)।
२५—व्यायाम (१९०६)।
२६—चंदबरदाई (१९११)।
२७—हमारी लिपि (१९१३)।
२८—गोस्वामी तुलसीदास की विनयावली (१९२०)।
२९—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज (१९२०)।
३०—रामावत संप्रदाय (१९२४)।
३१—आधुनिक हिंदी गद्य के आदि आचार्य (१९२६)।
३२—भारतीय नाट्यशास्त्र (१९२६)।
३३—गोस्वामी तुलसीदास (१९२७, १९२८)।
३४—हिंदी साहित्य का वीरगाथा काव्य (१९२९)।
३५—बालकाण्ड का नया जन्म (१९३१)।

३६—चंद्रगुप्त (१६३२)।
३७—देवनागरी और हिंदुस्तानी (१६३७)।

(६) वक्तृताएँ—

१—हिंदी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग)।
२—प्रान्तीय हिंदी साहित्य सम्मेलन (अलीगढ़)।
३—ओरियन्टल कान्फरेन्स (पटना)।
४— ,, ,, (बनारस)।

प्रस्तुत संग्रह में ६ निबंध हैं। पहला निबंध 'हमारे साहित्योदय की कथा', मालवीय काममेरेशन ग्रंथ में प्रकाशित हुआ था। दूसरा 'कबीर दास' की जीवनी पर आलोचनात्मक निबंध है जो कबीर ग्रंथावली की भूमिका का एक खण्ड है। तीसरा 'तुलसीदास' शीर्षक निबंध उनके नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में अनेक प्रकाशित निबंधों का संकलित रूप है जिसका समावेश 'हिंदी-साहित्य' नामक ग्रंथ में हो चुका है। चौथा लेख 'सूरदास' भी इसी प्रकार का एक निबंध है जिसका 'हिदी साहित्य' में समावेश हो चुका है। पाँचवाँ निबंध 'हिंदी गद्य के आदि आचार्य' नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में १६२६ तथा उसके परिवर्धित रूप हिंदी के निर्माताओं की भूमिका का संशोधित निबंध है। छठा तथा इस संग्रह का सातवाँ निबंध बाबूजी के 'देवनागरी और हिंदुस्तानी' नामक लेख का परिवर्धित तथा संशोधित रूप 'हमारी भाषा' तथा 'हमारी लिपि' में है। शेष दो लेख उनकी पुस्तकों, साहित्यालोचन और हिदी भाषा, से उद्धृत अंश हैं।

प्रस्तुत निबंधों का संग्रह बाबू साहब के जीवन-काल की अंतिम कृति है। 'कृति' इसको कहने का कारण यह है कि इसमें संकलित निबंधों को उन्होंने आधुनिक दृष्टिकोण से परिवर्तित, परिवर्धित तथा संशोधित किया है। पूर्वलिखित रचनाओं से इसमें पर्याप्त अन्तर पाठकों को मिलेगा। जैसा उनका स्वभाव एवं रुचि थी कि जो भी उनका निबंध व कृति पुनः प्रकाशित हो वह उस समय के सब प्रकाशित

विचारों तथा खोज की दृष्टि से संपूर्ण हो तथा उस पर उनके अपने निर्णय एवं मत की स्पष्ट झलक रहती थी। अपने इस लक्ष्य का पालन उन्होंने अपने अंतिम काल में भी किया, यह इन लेखों के पाठकों को भली भाँति प्रकट हो जायगा, यदि वे पूर्व उल्लिखित ग्रंथों के साथ इन लेखों का मिलान करेंगे। उनकी मौलिकता तथा सुधारवादी प्रवृत्ति ही उनके निश्चित विचारों को परिवर्तित करने के लिए बाध्य करती रही। ज्यों-ज्यों वे अपने निबंधों में परिवर्तन एवं परिवर्धन करते रहे त्यों-त्यों उनके भाषा संबंधी दोषों का निवारण होता जाता था एवं शैली में प्रौढ़ता आती जाती थी। यह बात पाठकों को उनके लेख 'हिंदी गद्य के आचार्य' में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगी। सन् १९२६ के लेख में मुंशी सदासुखराय का उल्लेख नहीं मिलता है। परंतु बाद में उन्होंने उनको आदि आचार्यों की श्रेणी में रख अपने इस निबंध में सम्मिलित कर लिया। इसी प्रकार 'हमारी भाषा' और 'हमारी लिपि', 'देवनागरी और हिंदुस्तानी' नामक निबंध का परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप है। इस संग्रह के लिए प्रस्तुत करने के लिए इसमें उन्होंने काट-छाँट तथा वृद्धि की है।

इन प्रस्तुत निबंधों में एक बात विचारणीय तथा उल्लेखनीय है। वह यह कि अंतिम कृति होने के कारण बाबू साहब की प्रौढ़तम शैली का रूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। पहले निबंध से लेकर अंतिम निबंध की अंतिम पंक्ति तक कहीं भी शैली का भिन्न रूप नहीं लक्षित होगा। यद्यपि इनके लेखों का, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रकाशन कई वर्ष पहले हो चुका है तथा उनमें और इनमें बड़ा अन्तर है, अतएव इन निबंधों का यह रूप उनकी अंतिम कृति मानना तथा उनकी शैली का प्रौढ़तम रूप मानना कदाचित् अनुचित न होगा।

औरंगाबाद, काशी
१५-९-४६

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एम. ए., डि. लिट्.
अध्यापक हिंदी विभाग हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।

(१) हमारे साहित्योदय की प्राचीन कथा

किसी जाति या देश का साहित्य उस जाति या देश के महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भांडार है, जो उस जाति या देश के उदय से आरंभ होकर निरंतर भरता आया है और जब तक उस जाति या देश का अस्तित्व इस भूतल पर वर्तमान रहेगा सदा भरता जायगा। यों तो संसार में साहित्य की सृष्टि उसी दिन से आरंभ हो गई है जिस दिन से मनुष्य इतर जंगम सृष्टि से उन्नत होकर अनुभव करने और सोचने विचारने लगा है। पर उसकी वास्तविक उन्नति उस समय से आरंभ होती है जब से उसमें अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अपने सह-वासियों पर प्रकट करने की तथा उनके भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वयं जानने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

साहित्य का मानव-जीवन से बड़ा घनिष्ट संबंध है। साहित्य में किसी जाति के जीवन का स्पष्ट चित्र देख पड़ता है। साहित्य उसके अभ्युत्थान और पतन, उसकी सांसारिक चेष्टाएँ, उसकी स्वतंत्रता, उसकी दासता, उसकी उच्छृङ्खलता, उसके विचारों या भावों की होड़ तथा उसके सामाजिक, राज-नीतिक और धार्मिक जीवन का साक्षात् स्वच्छ प्रतिबिंब है। साहित्य की बात तो दूर रही, उसकी भाषा के एक एक शब्द में उसका इतिहास भरा पड़ा है। अतएव मानव-जीवन और

साहित्य-जीवन में अन्योन्याश्रय संबंध है। एक के विना दूसरे का विवेचन ठीक ठीक नहीं हो सकता। इस विचार से साहित्य निर्मायक और निर्मित दोनों है। जहाँ एक ओर वह अपने प्रभाव से परिस्थिति के परिवर्तन करने में समर्थ होता है, वहाँ वह प्रायः वर्तमान परिस्थिति में पड़ कर स्वयं उसके साँचे में ढल जाता है। साहित्य के अधिकांश भाग को निर्मित होने का ही गौरव प्राप्त होता है। निर्मायक होने का सौभाग्य तो 'कचित्' की श्रेणी में गिनने योग्य है। इस अवस्था में किसी जाति के साहित्यिक विकास के तथ्य को समझने के लिए यही आवश्यक नहीं है कि उसकी परंपरागत स्थितियों का विवरण जान लिया जाय, वरन् यह भी आवश्यक है कि उसके जीवन के भिन्न भिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थितियों का भी विवेचन किया जाय, जिसमें दोनों की तुलना करके तत्त्व की बात समझ में आसके।

भाषा और साहित्य का संबंध भी बड़ा घनिष्ट है। यद्यपि दोनों का विकास अपनी अपनी स्वतंत्र परिस्थिति के अनुकूल होता है, पर दोनों एक दूसरे के परम सहायक और घनिष्ट मित्र हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, साहित्य भावों, विचारों और कल्पनाओं का भांडार है और भाषा उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के प्रकट करने का एक-मात्र मुख्य साधन है। जिस प्रकार भाषण-शक्ति के विना भाषा का विकास नहीं हो सकता वैसे ही भाषा के विना साहित्य का आविर्भाव असंभव है, यदि भाषा के न रहते हुए भाव, विचार और कल्पनाएं

उदय होतीं तो उनके प्रकट करने के साधन के अभाव में वे अपने उद्गमस्थान में लीन हो जातीं और आज संसार को उनके संचित भांडार को रक्षित रखने की कौन कहे, उसके सूत्रपात करने का भी सुयोग न उपस्थित होता। इस अवस्था में साहित्य के लिए भाषा कितनी उपयोगी है यह बताने की आवश्यकता नहीं है। पर भाषा का विकास एक अलग ढंग पर होता है और साहित्य का दूसरे ढंग पर। भाषाओं के रूपात्मक विकास में और साहित्य के विकास में कोई समानता नहीं है, पर उसके भावात्मक विकास में और साहित्य के विकास में कई बातों में समानता है। ऐतिहासिक तथा भौगोलिक स्थिति और मानसिक प्रवृत्तियों के कारण किसी भाषा में भावों का लोप या उदय होता है, और साहित्य के मूल आधार भाव ही हैं। इसलिए येही स्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ साहित्य पर भी प्रभाव डालती और उसमें परिवर्तन करती हैं। भिन्न भिन्न जातियों के परस्पर संसर्ग से या भिन्न भिन्न भौगोलिक स्थितियों में पड़ जाने से अथवा घटनाचक्र के वशीभूत हो जाने से किसी जाति के जीवन में या किसी देश की स्थिति में ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जो उसके रूप को बदल देते हैं। इन परिवर्तनों की प्रतिच्छाया साहित्य में संरक्षित रहती है। समय पड़ने पर यही साहित्य उसका स्वच्छ, स्पष्ट और साक्षात् चित्र ला उपस्थित करता है।

यह बात प्रायः सर्वसम्मत है कि प्राचीन भारतीय आर्य योरप और एशिया की आधुनिक सीमा के आसपास के मैदानों

रचना इसी काल में हुई थी और इसी काल के अंतिम भाग में आधुनिक-यूनानी और ईरानी लोगों के पूर्व पुरुष अपने आदिम स्थान से भिन्न-भिन्न दिशाओं में गए थे। इससे यह सिद्धांत निकलता है कि ३००० ई० पू० तक आर्य लोग भारत-वर्ष में नहीं आये थे। संभवतः वे इस काल में काबुल तक पहुँच गए थे। तीसरे काल को महाशय तिलक ने कृत्तिका-काल कहा है जो ३००० ई० पू० से १४०० ई० पू० तक था। इसी काल में तैत्तिरीय-संहिता और कई ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना हुई थी। इस काल के आरंभ में ही ऋग्वेद की ऋचाओं का अर्थ साधारणतः नहीं समझा जाता था और उनकी गणना प्राचीन साहित्य में होने लग गई थी। संभवतः इसी कृत्तिका-काल में संहिताओं का संपादन करके उनका क्रम लगाया गया और प्राचीनतम ऋचाओं और मंत्रों का अर्थ निश्चित करने का आयोजन किया गया। प्राचीन संस्कृत साहित्य का चौथा अथवा अन्तिम काल १४०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक था। इस काल में सूत्रों तथा उपनिषदों की रचना हुई। प्रोफेसर मेकडानेल का मत है कि वैदिक काल १५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक था। भिन्न भिन्न विद्वानों ने इस संबंध में भिन्न भिन्न प्रकार से विचार किया है। पर सब वैदिक काल को १५०० ई० पू० के इधर का नहीं मानते। महाशय तिलक ने ३००० ई० पू० का समय माना है जिसे साधारणतः ठीक समझना चाहिए।

संस्कृत-साहित्य दो मुख्य भागों या कालों में विभक्त

किया जा सकता है—एक वैदिक काल और दूसरा परिमार्जित या संस्कृत-काल।

प्रथम काल का आरंभ उस समय से होता है जब आर्य लोग पंचनद देश अथवा प्राचीन काल के सप्तसिंधु देश में बस गए थे और उन्होंने अपने वेदों का संकलन और संपादन कर के उन्हें सुव्यवस्थित रूप दिया था। इस काल की विशेषता कल्पना का विकास और पद्य का आविर्भाव था। इन आर्य ऋषियों ने इस प्राचीन काल में अपनी मानसिक सृष्टि की अद्भुत उन्नति की थी और यह देख कर आश्चर्य होता है कि उन दिनों में भी उनके विचार ऐसे उन्नत, सूक्ष्म, मौलिक तथा तत्वदर्शी थे। उनके प्रमार्जित विचारों के सौष्ठव, भावव्यंजन में कौशल और भाषा तथा छन्दो-बद्ध रचना में नैपुण्य ने उन्हें मानव-जगत् का मुकुट बनाया है, संसार की किसी जाति को उनके इस आसन को स्पर्श करने तक का साहस नहीं हुआ। उन्होंने आडंबरशून्य धार्मिक तथा दार्शनिक तत्वों का अनुशीलन कर साक्षात्कृतधर्मा की उपाधि प्राप्त की है। इस वैदिक काल के साहित्य को हम तीन उपभागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला उपविभाग चारों वेदों की रचना से संबंध रखता है। इन चारों वेदों में सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण ऋग्वेद-संहिता है जो १० मंडलों में विभक्त है और जिसमें सब मिला कर १०२८ ऋचाएं हैं। इन ऋचाओं में भिन्न भिन्न देवताओं, विशेष कर इन्द्र, अग्नि और सोम का वर्णन तथा उनके प्रति प्रार्थनाएं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अद्भुत

प्राकृतिक पदार्थों और घटनाओं का इन प्राचीन ऋषियों पर पड़ा प्रभाव पड़ा। इन्हीं को आदर्शरूप मानकर इन्होंने बहुत सी ऋचाओं की रचना की थी। डाक्टर मेकडानेल का कथन है कि "कुछ थोड़े से देवताओं को छोड़कर जो प्राचीनतर काल के हैं, शेष सब देवताओं की स्थिति प्राकृतिक नींव पर अवलंबित है—जैसे सूर्य, ऊषा, अग्नि, वायु, पर्जन्य आदि।" जिन ऋचाओं के आधार पर यह अर्थ लिया गया है वे चाहे प्राकृतिक घटनाओं को द्योतक हों, चाहे उनमें कोई दार्शनिक भाव अंतर्हित हो, इसमें सन्देह नहीं है कि ऋग्वेद के ऋषियों की रचनाएँ उत्तम कोटि की हैं, उनमें भाव और भाषा दोनों का सौष्ठव वर्तमान है। दूसरा सामवेद है। इसमें ७५ ऋचाओं और मंत्रों को छोड़ कर शेष सब अंश ऋग्वेद से लिया गया है। इस सामवेद के संकलन का उद्देश्य यही जान पड़ता है कि सोमपान तथा अन्य क्रियाओं के समय गाने योग्य ऋचाओं का संग्रह एक स्थान में कर लिया जाय। यजुर्वेद में भिन्न भिन्न धार्मिक क्रियाओं के उपयुक्त ऋचाओं का संग्रह है। इस में विशेषता यह है कि ऋग्वेद की ऋचाओं के अतिरिक्त बहुत सा अंश गद्य में लिखा है। इन्हीं तीनों वेदों के समुदाय को त्रयी या वेदत्रयी भी कहते हैं। चौथा अथर्ववेद है जो सबसे पीछे का है और जिसमें विशेषकर मंत्रों तथा धार्मिक विधानों का संग्रह है। इसकी भाषा तथा इसके विषय का विवेचन करके यह सिद्ध किया गया है कि यह अन्य तीनों वेदों से बहुत पीछे का बना है।

इन चारों वेदों की रचना के अनन्तर वैदिक काल के साहित्य की उत्पादक क्रिया भी समाप्त होती है। अब न नए मंत्रों और ऋचाओं की रचना होती थी और न अब उसकी आवश्यकता ही थी। अब इन प्राचीन ऋषियों की संतानो ने धार्मिक विधानों की ओर ध्यान देना आरंभ किया। अतएव अब इस बात की आवश्यकता हुई कि प्राचीन मंत्रों और ऋचाओं का धार्मिक विधानों से संबंध स्थापित किया जाय और उनके आंतरिक भावों को स्पष्ट किया जाय। इस उद्देश्य से प्रत्येक वेद के ब्राह्मणों की रचना आरंभ हुई। ये सब गद्य में लिखे गए हैं, पर इनकी लेखनशैली में आरंभ काल की वह मधुरता, स्वच्छंदता और सुंदरता नहीं है। वेदों और ब्राह्मणों में मुख्य अंतर यह है कि वेदों की भाषा काव्यमय और पद्यात्मक है, पर ब्राह्मणों की भाषा काव्यगुण-हीन और गद्य-मय है पहले में स्वाभाविक और गोचर भावों का, तो दूसरे में बनावटी और अगोचर भावों का बाहुल्य है। एक में देवताओं की अद्भुत और स्वाभाविक कल्पना का आनंद है तो दूसरे में धार्मिक विधानों और क्रियाओं की विशेषता है। ऋग्वेद के ब्राह्मणों में होता के कर्तव्यों का, सामवेद में उद्गाता के और यजुर्वेद में अध्वर्यु के कर्तव्यों का वर्णन है। इन्हीं ब्राह्मणों के अंतर्गत आगे चलकर आरण्यक हुए, जिनमें दार्शनिक विषयों पर विचार किया गया। पीछे से विशेषकर अथर्ववेद के आधार पर आरण्यकों से उपनिषदों की रचना हुई। ये उपनिषद् दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—एक

तो वे जिनका संबंध किसी संप्रदाय या देवता विशेष से नहीं है, जिनमें केवल परमात्मा का चिंतन किया गया है और जो मुक्तिलाभ के साधनों पर विचार करते हैं। दूसरे वे जो संप्रदाय विशेष से संबंध रखते हैं।

अब वैदिक साहित्य के तीसरे उपविभाग का समय आता है। आरंभ में तो केवल वेदों को 'श्रुति' का नाम दिया गया था, क्योंकि केवल इन्हीं का ज्ञान पहले पहले सुनकर हुआ था। संसार को सब बातों के ज्ञान के विषय में दो सिद्धांत माने जाते हैं—एक विकास-सिद्धांत और दूसरा श्रुति-सिद्धांत। विकास-सिद्धांत के अनुसार सब बातों का आरंभ किसी साधारण बात से होता है और क्रमशः उन्नति होती रहती है; साथ ही संकुलता और जटिलता आती जाती है। श्रुति-सिद्धांत में जो कुछ हमें ज्ञान हुआ है वह ईश्वर की दया का फल है, उसने हमें कृपापूर्वक उसे उपहार-स्वरूप दिया है, अथवा उसकी अनुकंपा से वह स्वयं आविर्भूत हुआ है। सारांश यह कि विकास-सिद्धांत में क्रमशः उन्नति होती है और श्रुति-सिद्धांत के अनुसार मनुष्य आरंभ में ही ज्ञान-संपन्न हो गया था। संसार में जितने धार्मिक संप्रदाय हैं सब श्रुति-सिद्धांत के माननेवाले हैं, विकास सिद्धांत को कोई नहीं मानता। इसी प्रकार वेदों का आविर्भाव भी ईश्वर की दया का फल है, अर्थात् प्राचीन ऋषियों ने इन्हें ब्रह्मा से सुनकर इनको कंठस्थ कर लिया है। इसी लिये ये 'श्रुति' कहलाते हैं। पीछे के ग्रंथ 'श्रुति' के अंतर्गत न होकर 'स्मृति' के अंतर्गत माने जाते हैं।

पहले तो तीनों वेद 'श्रुति' में गिने जाते थे, पीछे से चौथा वेद भी उसी में गिना जाने लगा। तब ब्राह्मणों के लिए झगड़ा उपस्थित हुआ और अन्त में आरण्यकों तक को यह पदवी दी गई। इनके अतिरिक्त जो और धर्मग्रंथ थे 'वेस्मृति' में गिने गए। अतएव वैदिक साहित्य-काल के प्रथम दो भागों को हम श्रुति-काल और तीसरे विभाग को स्मृति-काल कह सकते हैं।

इस समय तक धार्मिक क्रियाओं और विधानों का आडंबर इतना बढ़ गया था और इस संबंध में इतना अधिक साहित्य निर्माण हो चुका था कि सबका यथावत् कंठस्थ रखना और ठीक-ठीक उपयोग करना बहुत कुछ कठिन हो गया था। अतएव अब इस बात की आवश्यकता हुई कि जहाँ तक संभव हो सब बातें संक्षेप में कही जायँ। इस प्रकार सूत्ररूप में सब बातें कही जाने लगीं और क्रमशः श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों की रचना हुई। वेदों की रचना के आरंभ से लेकर सूत्रों के निर्माण तक कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं और इस बीच में आर्यों की स्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। वैदिक भाषा भी क्रमशः विकसित, परिमार्जित तथा सुशृंखलित होकर नया रूप धारण कर रही थी। इस अवस्था में प्राचीन वैदिक साहित्य का तथ्य समझने में कठिनता होने लगी। इनका ज्ञान रक्षित रखने के लिये वेदांगों की रचना हुई। इनमें से शिक्षा, छंद, व्याकरण और निरुक्त का सम्बन्ध तो वेदों के ठीक ठीक पाठ करने तथा उनका अर्थ लगाने से है और

कल्प तथा ज्योतिष का सम्बन्ध धार्मिक कृत्यों की रीतियों तथा समयों से है। इस प्रकार वैदिक साहित्य-काल के अंतिम दिनों में उन शास्त्रों का आरम्भ हो गया था जिनकी आगे चलकर विशेष उन्नति हुई।

वैदिक साहित्य-काल की समाप्ति के पूर्व ही से परिमार्जित अथवा संस्कृत साहित्य काल का आरम्भ हो गया था। वैदिक साहित्य काल की समाप्ति २०० ई० पू० के लगभग होती है पर संस्कृत काल का आरम्भ लगभग ५०० ई० पू० के होता है और लगभग १००० ई० तक जाता है। इन १५०० वर्षों में संस्कृत साहित्य ने अद्भुत उन्नति की। इसका सर्वोत्कृष्ट समय गुप्तवंशीय राजाओं का है जब अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुई। पर गुप्तों का राज्यकाल आरम्भ होने के पहले ही यहाँ की भाषा में परिवर्तन आरम्भ हो गया था। कुछ विद्वानों का मत है कि वेदों की रचना जिस भाषा में हुई वह बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न थी। उनका यह भी कहना है कि बोलचाल की भाषा और लिखने पढ़ने की भाषा अपने स्वतन्त्र स्रोतों में प्रवाहित होती रही। जब लिखने पढ़ने की भाषा परिमार्जित होते-होते केवल विद्वानों ही की संपत्ति रह गई तब बोलचाल की भाषा ने क्रमशः उसका स्थान ग्रहण किया। इस प्रकार यह क्रम निरंतर चलता रहा। इस सिद्धांत के आधार पर यह कहा जाता है कि बोलचाल की भाषा क्रमशः परिवर्तित या विकसित होते-होते बौद्ध काल में पाली के रूप में आविर्भूत हुई। यह पाली संस्कृत से बहुत कुछ मिलती-

जुलती है, पर इसमें संस्कृत की अपेक्षा स्वच्छन्दता अधिक है। यह व्याकरण के जटिल नियमों से परिवेष्टित नहीं हुई है। पाली में बौद्ध साहित्य की रचना हुई है। पाली के अनंतर भिन्न भिन्न प्राकृतों का समय आता है। इन प्राकृतों में भी यथासमय ग्रन्थों की रचना हुई और संस्कृत काव्यों में भी इनको स्थान मिला। जैन-साहित्य विशेष कर प्राकृत में लिखा गया। प्राकृतों के अनन्तर अपभ्रंशों का काल आता है। इसमें भी ग्रंथों की रचना हुई, पर इस भाषा के बहुत थोड़े ग्रंथों का अब तक पता लगा है। इन अपभ्रंशों के अनंतर हमारी आधुनिक देश-भाषाओं का समय आता है। इनमें से कई का साहित्य-भांडार बहुत कुछ भरा पूरा है। बँगला, मराठी, गुजराती, हिन्दी—ये आधुनिक भाषाएं उन्नत हैं और इनका भांडार अनेक रत्नों से भरा हुआ है। इन सब भाषाओं में क्रमशः हमारी भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का लिखित भांडार उदय-काल से लेकर अब तक भरता आया है और जब तक इस भूतल पर हमारा अस्तित्व रहेगा तब तक यह भांडार निरन्तर भरता जायगा।

———

(२) कबीरदास

काल की कठोर आवश्यकताएँ महात्माओं को जन्म देती हैं। कबीर का जन्म भी समय की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। अवसर के उचित उपयोग से अनभिज्ञ और कर्मठता से उदासीन रहने वाली हिंदू जाति की धर्म-जन्य दयालुता ने उसे दासता के गर्त में ढकेल दिया था। उसका शूर-वीरत्व उसके किसी काम न आया। वीरता के साथ-साथ वीर-गाथाओं और वीर-गीतों की अंतिम प्रतिध्वनि भी रणथंभौर के पतन के साथ ही विलीन हो गई। शहाबुद्दीन गोरी (मृत्यु स० १२६३) के समय से ही इस देश में मुसलमानों के पाँव जमने लग गये थे, उसके गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक (स० १२६३-१२७३) ने गुलाम वंश की स्थापना कर पठानी सल्तनत और भी दृढ़ कर दी। भारत की लक्ष्मी पर लुब्ध मुसलमानों का विकराल स्वरूप, जिसे उनकी धर्मांधता ने और भी अधिक विकराल बना दिया था, अलाउद्दीन खिलजी (स० १३५२-१३७२) के समय में भली भाँति प्रकट हुआ। खेतों में खून और पसीना एक करने वाले किसानों की कमाई का आधे से अधिक अंश भूमि-कर के रूप में राज-कोष में जाने लगा। प्रजा दाने-दाने को तरसने लगी। सोने चाँदी की तो बात ही क्या, हिंदुओं के घरों में ताँबे पीतल के थाली लोटों तक का रहना सुलतान को खटकने लगा। उनका

घोड़े की सवारी करना और अच्छे कपड़े पहनना महान् अपराधों में गिना जाने लगा, नाम मात्र के अपराध के लिये भी किसी की खाल खिंचवाकर उसमें भूसा भरवा देना एक साधारण बात थी। अलाउद्दीन खिलजी के लड़के कुतुबुद्दीन मुबारक (संवत् १३७३-१३७७) के शासन काल में जब देवगिरी का राजा हरपाल बंदी करके दिल्ली लाया गया, तब उसकी यही दशा हुई। मंदिरों को गिरवा कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनाने का लग्गा तो बहुत पहले लग चुका था। अब स्त्रियों के मान और पतिव्रत की रक्षा करना भी कठिन हो गया। चित्तौर पर अलाउद्दीन की दो चढ़ाइयाँ केवल अतुल सुंदरी पद्मिनी की ही प्राप्ति के लिए हुईं, अंत में गढ़ के टूट जाने और अपने पति भीमसी के वीर गति पाने पर पुण्य-प्रतिमा महाराणी पद्मिनी ने अन्य वीर क्षत्राणियों के साथ अपने मान की रक्षा के लिये अग्निदेव के क्रोड़ में शरण ली और जौहर करके हिंदू जाति का मस्तक ऊँचा किया। तुगलक वंश के अधिकारारूढ़ होने पर भी ये कष्ट कम नहीं हुए, वरन मुहम्मद तुगलक (सं० १३८२-१४०८) की ऊटपटाँग व्यवस्थाओं से और भी बढ़ गए। समस्त राजधानी, जिसमें नवजात शिशु से लेकर मरणोन्मुख वृद्ध तक थे, दिल्ली से लाकर दौलताबाद में बसाई गई। परन्तु जब वहाँ आधे से अधिक लोग मर गए, तब सबको फिर दिल्ली लौट जाने की आज्ञा दी गई। हिंदू जाति के लिये जीवन धीरे-धीरे एक भार सा होने लगा, कहीं

से आशा की झलक तक नहीं दिखाई देती थी। चारों ओर निराशा और निरवलंबता का अंधकार छाया हुआ था। हिंदू रक्त ने खुसरो की नसों में उबल कर हिंदू राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया तो था (वि० सं० १३१८) पर वह सफल न हो सका। इसके अनंतर सारी आशाएँ बहुत दिनों के लिये मिट्टी में मिल गईं। तैमूर के आक्रमण ने देश को जहाँ-तहाँ उजाड़ कर नैराश्य की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। हिंदू जाति में से जीवन शक्ति के सब लक्षण मिट गये। विपत्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर मनुष्य पहले तो परमात्मा की ओर ध्यान लगाता है और अपने कष्टों से त्राण पाने की आशा करता है, पर जब स्थिति में सुधार नहीं होता, तब परमात्मा की भी उपेक्षा करने लगता है, उसके अस्तित्व पर उसका विश्वास ही नहीं रह जाता। कबीर के जन्म के समय में हिंदू जाति की यही दशा हो रही थी। वह समय और परिस्थिति अनीश्वरवाद के लिये बहुत ही अनुकूल थी, यदि उसकी लहर चल पड़ती तो उसे रोकना बहुत ही कठिन हो जाता। परंतु कबीर ने बड़े ही कौशल से इस अवसर से लाभ उठाकर जनता को भक्ति मार्ग की ओर प्रवृत्त किया और भक्ति भाव का प्रचार किया। प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिये जनता इस समय तैयार नहीं थी। मूर्त्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८१ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जब कि महमूद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखकर बैठे हुए श्रद्धालुओं के देखते-देखते सोमनाथ का मंदिर

नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था। गजेंद्र की एक ही टेर सुनकर दौड़ आने वाले और ग्राह से उसकी रक्षा करने वाले सगुण भगवान् जनता के घोर से घोर संकट काल में भी उसकी रक्षा के लिये आते हुए न दिखाई दिए। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असंभव था। पंढरपुर के भक्त-शिरोमणि नामदेव की सगुण भक्ति जनता को आकृष्ट न कर सकी, लोगों ने उनका वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर का किया; और अंत में उन्हें भी ज्ञानावृत निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता, उसका अभास मात्र मिल सकता था। पर प्रबल-जलधार में बहते हुए मनुष्य के लिये वह कूलस्थ मनुष्य या चट्टान किस काम की है जो उसकी रक्षा के लिये तत्परता न दिखलाए? पर उसकी ओर बहकर आता हुआ एक तिनका भी उसके हृदय में जीवन की आशा पुनरुद्दीप्त कर देता है और उसीका सहारा पाने के लिये वह अनायास हाथ बढ़ा देता है। कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा यही आशा भारतीय जनता के हृदय में उत्पन्न की और उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की इस अथाह् जलराशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी, यद्यपि सहायता की आशा से आगे बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल राम-भक्ति ही

उसे किनारे पर लाकर सर्वथा निरापद कर सकी। राम-भक्ति ने केवल सगुण कृष्ण-भक्ति के समान जनता की दृष्टि जीवन के आनंदोल्लास-पूर्ण-पक्ष की ओर ही नहीं लगाई, प्रत्युत आनंद विरोधिनी अमांगलिक शक्तियों के संहार का विधान कर दूसरे पक्ष में भी आनंद की प्राण-प्रतिष्ठा की। पर इससे जनता पर होने वाले कबीर के उपकार का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कबीर यदि जनता को भक्ति की ओर न प्रवृत्त करते तो क्या यह संभव था कि लोग उस प्रकार सूर की कृष्ण-भक्ति अथवा तुलसी की राम-भक्ति आँखें मूँदकर ग्रहण कर लेते? सारांश यह है कि कबीर का जन्म ऐसे समय में हुआ जब कि मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा नहीं रह गई थी और न उसमें अपने आपको जीवित रखने की इच्छा ही शेष रह गई थी। उसे मृत्यु या धर्म-परिवर्त्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देख पड़ता था। यद्यपि धर्मज्ञ तत्त्वज्ञों ने सगुण उपासना से आगे बढ़ते-बढ़ते निर्गुण उपासना तक पहुँचने का सुगम मार्ग बताया है और वास्तव में यह तत्त्व बुद्धिसंगत भी जान पड़ता है, पर उस समय सगुण उपासना की निःसारता का जनता को परिचय मिल चुका था और उस पर से उसका विश्वास भी हट चुका था। अतएव कबीर को अपनी व्यवस्था उलटनी पड़ी। मुसलमान भी निर्गुणोपासक थे। अतएव उनसे मिलते जुलते पथ पर लगा कर कबीर ने हिंदू जनता को संतोष और शांति प्रदान करने

का उद्योग किया। यद्यपि इस उद्योग में उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई, तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिये मार्ग परिष्कृत कर दिया और उत्तरीय भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिये उसे बहुत कुछ संस्कृत और परिष्कृत बना दिया।

जिस समय कबीर आविर्भूत हुए थे, वह समय ही भक्ति की लहर का था। उस लहर को बढ़ाने के प्रबल कारण प्रस्तुत थे। मुसलमानों के भारत में आ बसने से परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। हिंदू जनता का नैराश्य दूर करने के लिये भक्ति का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने हिंदू और मुसलमान दोनों विरोधी जातियों को एक करने की आवश्यकता का भी अनुभव किया। इस अनुभव के मूल में एक ऐसे सामान्य भक्ति-मार्ग का विकास गर्भित था जिसमें परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन हो सकता और जिसका मूलाधार भारतीय ब्रह्मवाद तथा मुसलमानी एकेश्वरवाद के सूक्ष्म भेद की ओर ध्यान नहीं दिया गया और दोनों के एक विचित्र मिश्रणरूप में निर्गुण भक्ति-मार्ग चल पड़ा। रामानंदजी के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीर प्रमुख थे। शेष में सेना, धना, भवानंद, पीपा और रैदास थे, परन्तु उनका उतना प्रभाव न पड़ा जितना कबीर का। नरहर्यानंदजी ने अपने शिष्य गोस्वामी तुलसी-दास को प्रेरणा करके उनके कर्तृत्व से सगुण रामभक्ति का

एक और ही स्रोत प्रवाहित कराया।

मुसलमानों के आगमन से हिंदू समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पददलित शूद्रों की दृष्टि में उन्मेष हो गया। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में द्विजों और शूद्रों का भेद नहीं है। सधर्मी होने के कारण वे सब एक हैं, उनके व्यवसाय ने उनमें कोई भेद नहीं डाला है, न उनमें कोई छोटा और न कोई बड़ा। अतएव इन ठुकराए हुए शूद्रों में से ही कुछ ऐसे महात्मा निकले जिन्होंने मनुष्यों की एकता को उद्घोषित करना चाहा। इस नवोत्थित भक्ति-तरंग में सम्मिलित होकर हिंदू समाज में प्रचलित इस भेद भाव के विरुद्ध भी आवाज उठाई गई। रामानन्दजी ने सबके लिये भक्ति का मार्ग खोलकर उनको प्रोत्साहित किया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा आदि समाज की नीची श्रेणी के ही थे परंतु उनका नाम आज तक आदर से लिया जाता है।

वर्ण-भेद से उत्पन्न उच्चता और नीचता को ही नहीं, वर्ग-भेद से उत्पन्न उच्चता-नीचता को भी दूर करने का इस निर्गुण भक्ति ने प्रयत्न किया। स्त्रियों का पद स्त्री होने के ही कारण नीचा न रह गया। पुरुषों के ही समान वे भी भक्ति की अधिकारिणी हुईं। रामानन्दजी के शिष्यों में से दो स्त्रियाँ थीं, एक पद्मावती दूसरी सुरसरी। आगे चलकर सहजोबाई और दयाबाई भी भक्त-संतों में से हुईं। स्त्रियों की स्वतंत्रता के परम विरोधी, उनको घर की चहारदीवारी के अंदर ही कैद रखने के कट्टर पक्षपाती तुलसीदासजी भी जो मीराबाई को 'राम

विमुख तजिय कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही' का उपदेश दे सके, वह निर्गुण भक्ति के ही अनिवार्य और अलक्ष्य प्रभाव के प्रसाद से समझना चाहिए। ज्ञानी संतों ने स्त्री की जो निंदा की है, वह दूसरी ही दृष्टि से है। स्त्री से उनका अभिप्राय स्त्री-पुरुष के काम-वासना-पूर्ण संसर्ग से है। स्त्री की निंदा कबीर से बढ़कर कदाचित् ही किसी ने की हो, परंतु पति-पत्नी की भाँति न रहते हुए भी लोई का आजन्म उनके साथ रहना प्रसिद्ध है।

कबीर इस निर्गुण भक्ति-प्रवाह के प्रवर्तक हैं, परंतु भक्त नामदेव इनसे भी पहले हो गए थे। नामदेव का नाम कबीर ने शुक, उद्धव, शंकर आदि ज्ञानियों के साथ लिया है—

आगे सुक उधव अकूर, हणवंत जागे लै लँगूर
संकर जागे चरन सेव, कालि जागे नामां जैदेव ॥

अक्रूर, हनुमान् और जयदेव की गिनती ज्ञानियों (जाग्रतों) में कैसे हुई, यह नहीं कह सकते। नामदेवजी जाति के दर्जी थे और दक्षिण के सतारा जिले के नरसी वमनी नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। पढरपुर में विठोवाजी का मंदिर है। ये उनके बड़े भक्त थे। पहले ये सगुणोपासक थे, परंतु आगे चलकर इनका झुकाव निर्गुण भक्ति की ओर हो गया, जैसा उनके गायनों के नीचे दिए उदाहरणों से पता चलेगा—

(क) दशरथराय नंद राजा मेरा रामचन्द्र,
प्रणवै नामा तत्त्व रस अमृत पीजै ॥

धनि धनि मेघा रोमावली। धनि धनि कृष्ण ओढ़े काँवली॥
धनि धनि तू माता देवकी। जिह घर रमैया कवलापती॥
धनिधनि वन खंड वृन्दावना। जहँ खेलैं श्रीनारायना॥
वेनु बजावे, गोधन चारैं। नामे का स्वामी आनंद करैं॥

(ख) पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ठेंगा टाँगरी तोरी लंगत लंगत जाती थी॥
पांडे तुम्हारा महादेव धौले बलद चढ़ा आवत देखा था।
पांडे तुम्हारा रामचंद्र सो भी आवत देखा था॥
रावन सेंती सरवर होइ घर की जोय गँवाई थी।

कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत चल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास आदि जितने प्रमुख संत हुए, सबने कबीर का अनुकरण किया और अपने, अपना अलग मत चलाया। इनके विषय की मुख्य बातें ऊपर आ गई हैं, फिर भी कुछ बातों पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सब ने नाम, शब्द, सद्गुरु आदि की महिमा गाई है और मूर्तिपूजा, अवतार-वाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जाति पांति का भेद-भाव मिटाने का प्रयत्न किया है, परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्म-कांड के प्रभाव से इनके प्रवर्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं, और इनके मतों में भी कर्मकांड का पाखंड घुस गया है। कई मतों में केवल हिंदू लिए जाते हैं। केवल नानकदेवजी का चलाया सिक्ख

संप्रदाय ही ऐसा है जिसमें जाति पाँति का भेद नहीं आने पाया, परंतु उसमें भी कर्मकांड की प्रधानता हो गई है और ग्रंथ-साहब का प्रायः वैसा ही पूजन किया जाता है जैसा मूर्तिपूजक मूर्तिपूजा करते हैं। कबीरदास के मनगढ़ंत चित्र बनाकर उनकी पूजा कबीरपंथी मठों में भी होने लग गई है और सुमरनी आदि का प्रचार हो गया है।

यद्यपि आगे चलकर निर्गुण संत मतों का वैष्णव संप्रदायों से बहुत भेद हो गया, तथापि इसमें संदेह नहीं कि संत धारा का उद्गम भी वैष्णवभक्तिरूपी स्रोत से ही हुआ है। श्रीरामानुज ने संवत् ११४४ में यादव चल पर नारायण की मूर्ति स्थापित करके दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रवाह चलाया था, पर उनकी भक्ति का आधार ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद था, उनका अद्वैत विशिष्टाद्वैत हुआ। गुजरात में माधवाचार्य ने द्वैतमूलक वैष्णव धर्म का प्रवर्तन किया। जो कुछ कहा जा चुका है, उससे पता चलेगा कि संतधारा अधिकतर ज्ञानमार्ग के ही मेल में रही। पर उधर बंगाल में महाप्रभु चैतन्य देव और उत्तर भारत में वल्लभाचार्यजी के प्रभाव से भक्ति के लिये परमात्मा के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की गई, यद्यपि सिद्धांत रूप में ज्ञानमार्ग का त्याग नहीं किया गया। और तो और, तुलसीदासजी तक ने ज्ञानमार्ग की बातों का निरूपण किया है, यद्यपि उन्होंने उन्हें गौण स्थान दिया है। संतों में भी कहीं कहीं अनजान में सगुणवाद आ गया है और विशेष कर कबीर में, क्योंकि भक्ति गुणों का आश्रय पाकर ही हो सकती है। शुद्ध ज्ञाना-

श्रयी उपनिषदों तक में उपासना के लिये ब्रह्म में गुणों का आरोप किया गया है। फिर भी तथ्य की बात यह जान पड़ती है कि जब वैष्णव संप्रदाय ने आगे चलकर व्यवहार में सगुण भक्ति का आश्रय लिया, तब भी संत मतों ने ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति ही से अपना संबंध रखा।

यहाँ पर यह कह देना उचित जँचता है कि कबीर सारतः वैष्णव थे। अपने आपको उन्होंने वैष्णव तो नहीं कहा है, परंतु वैष्णवों की जितनी प्रशंसा की है. उसमें उनकी वैष्णवता का बहुत पुष्ट प्रमाण मिलता है—

> मेरे संगी द्वो जणा एक वैष्णव एक राम।
> वो है दाता मुक्ति का वो सुमिरावै नाम॥
> कबीर ध्वनि ते सुंदरी जिनि जाया वैसनौं पूत।
> राम सुमिरि निरभैं हुआ सब जग गया अऊत॥
> साकत बाभँण मति मिलै वैसनौं मिलै चँडाल।
> अंकमाल दे भेटिए मानौ मिले गोपाल॥

शाक्तों की निंदा के लिये यह तत्परता उनकी वैष्णवता का ही फल है। शाक्त को उन्होंने कुत्ता तक कह डाला है—"साकत सुनहा दूनों भाई, एक नीदै एक भौंकत जाई।" जो कुछ संदेह उनकी वैष्णवता में रह जाता है, वह रामानंदजी को गुरु बनाने की उनकी आकुलता से दूर हो जाना चाहिए। अन्य वैष्णवों में और उनमें जो भेद दिखाई देता है उसका कारण, जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, उनके सिद्धान्त और व्यवहार में भेद न रखने का फल है

कबीरदास के जीवन चरित्र के संबंध में तथ्य की बातें बहुत कम ज्ञात हैं, यहाँ तक कि जन्म और मरण के संवतों के विषय में भी अब तक कोई निश्चित बात नहीं ज्ञात हुई है। कबीरदास के विषय में लोगों ने जो कुछ लिखा है, सब जन-श्रुतियों के आधार पर है। इनका समय भी अनुमान के आधार पर निश्चित किया गया है। डा० हंटर ने इनका जन्म संवत् १४३७ में और विल्सन साहब ने मृत्यु संवत् १५०५ में मानी है। रेवरेंड वेस्टकाट के अनुसार इनका जन्म संवत् १४६७ में और मृत्यु १५७५ में हुई। कबीर पंथियों में इनके विषय में यह पद्य प्रसिद्ध है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रकट भये॥
घन गरजे दामिनि दमके बूँदें बरपे झर लाग गए।
लहर तलाव में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट हुए॥

यह पद्य कबीरदास के प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी धर्मदास का कहा हुआ बताया जाता है। इसके अनुसार कबीरदास का जन्म संवत् १४५५ ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को माना है, परंतु गणना करने से संवत् १४५५ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को नहीं पड़ती। पद्य को ध्यान से पढ़ने पर संवत् १४५६ निकलता है, क्योंकि उसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है "चौदह सौ पचपन साल गए" अर्थात् उस समय तक संवत् १४५५ बीत गया था।

ज्येष्ठ मास वर्ष के आरंभिक मासों में है, अतएव उसके

लिए चौदह सौ पचपन साल गए लिखना स्वाभाविक भी है, क्योंकि वर्षारंभ में नवीन संवत् लिखने का उतना अभ्यास नहीं रहता। १४५६ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को ही पड़ती है। अतएव यही संवत् कबीर के जन्म का ठीक संवत् जान पड़ता है।

इनके निधन के संबंध में दो तिथियाँ प्रसिद्ध हैं—

(१) संवत् पन्द्रह सौ औ पाँच मों, मगहर कियो गमन।
अगहन सुदी एकादशी, मिले पवन में पवन॥

(२) संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन॥

एक के अनुसार इनका परलोकवास संवत् १५०५ मे और दूसरे के अनुसार १५७५ में ठहरता है। दोनों तिथियों में ७० वर्ष का अन्तर है। वार न दिये रहने के कारण ज्योतिष की गणना से तिथियों की जाँच नहीं की जा सकती।

डाक्टर फ्यूरर ने अपने 'मानुमेंटल एंटीक्विटीज आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि बस्ती जिले के मगहर ग्राम में, आमी नदी के दक्षिण तट पर, कबीरदास-जी का रौजा है जिसे सन् १४५० (संवत् १५०७) में बिजलीखाँ ने बनवाया और जिसका जीर्णोद्धार सन् १५६७ (संवत् १६२४) में नवाब फिदाई खाँ ने कराया। यदि ये संवत् ठीक हैं तो कबीर की मृत्यु संवत् १५०७ के पहले ही हो चुकी थी। इस बात को ध्यान में रखकर देखने से १५०५ ही इनका निधन संवत् ठहरता है, और इनका जन्म संवत् १४५६ मान लेने से

आयु केवल ४६ वर्ष की ठहरती है। मेरा अनुमान था कि डाक्टर फ्यूर्र ने मगहर के रौजे के बनने तथा जीर्णोद्धार के संवत् उसमें खुदे किसी शिलालेख के आधार पर दिए होंगे। इस अनुमान से मैं बहुत प्रसन्न था कि शिलालेख के आधार पर कबीर जी का समय निश्चित हो जायगा; पर पूछताछ करने पर पता लगा कि वहाँ कोई शिलालेख नहीं है। डाक्टर साहब ने जिस ढग से ये संवत् दिए हैं, उससे तो यही जान पड़ता है कि उनके पास कोई आधार अवश्य था। परंतु जब तक उस आधार का पता नहीं लगता, तब तक मैं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इन संवतों को निश्चित मानने में असमर्थ हूँ। और भी कई बातें हैं जिनसे इन संवतों को अप्रामाणिक मानने को ही जी चाहता है। इन पर आगे विचार किया जाता है।

यह बात प्रसिद्ध है कि कबीरदास सिकंदर लोदी के समय में हुए थे और उसके कोप के कारण ही उन्हें काशी छोड़कर मगहर जाना पड़ा था। सिकंदर लोदी का राजत्वकाल सन् १५१७ (संवत् १५७४) से सन् १५२६ (सवत् १५८३) तक माना जाता है। इस अवस्था में यदि कबीर का निधन संवत् १५०५ मान लिया जाय तो उनका सिकंदर लोदी के समय में वर्त्तमान रहना असभव सिद्ध होता है।।

गुरु नानकदेवजी ने कबीर की अनेक साखियों और पदों को आदि-ग्रंथ में उद्धृत किया है। गुरु नानकजी का जन्म संवत् १५२६ मे और मृत्यु संवत १५६६ में हुई। रेवरेंड वेस्टकाट लिखते हैं कि जब नानक २७ वर्ष के थे, तब कबीरदासजी से

उनकी भेंट हुई थी। नानकदेवजी पर कबीरदासजी का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है कि इस घटना को सत्य मानने की प्रवृत्ति होती है, जिससे कबीर का संवत् १५५६ में वर्तमान रहना मानना पड़ता है। परंतु संवत् १५०५ में कबीर की मृत्यु मानने से यह घटना असंभव हो जाती है। जिन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर इस ग्रंथावली का संपादन हुआ है, उनमें से एक संवत् १५६१ की लिखी है। यदि कबीरजी की मृत्यु १५०५ में हुई तो यह प्रतिलिपि उनकी मृत्यु के ५६ वर्ष पीछे तैयार की गई होगी। ऐसा प्रसिद्ध है कि कबीरदासजी के प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी धर्मदासजी ने संवत् १५२१ में जब कि कबीरदासजी की आयु ६५ वर्ष की थी, अपने गुरु के वचनों का संग्रह किया। जिस ढंग से कबीरदासजी की वाणी का संग्रह इस प्रति में किया गया है, उसे देखकर यह मानना पड़ेगा कि यह पहला संकलन नहीं था, वरन् अन्य संकलनों के आधार पर पीछे से लिखा गया था, अथवा कोई आश्चर्य नहीं कि धर्मदास के संग्रह के ही आधार पर इसका संकलन किया गया हो।

ग्रंथ-साहब में कबीरदास की बहुत सी साखियाँ और पद दिए हैं। उनमें से बहुत से ऐसे हैं जो सं० १५६१ की हस्तलिखित प्रति में नहीं हैं। इससे यह मानना पड़ेगा कि या तो यह संवत् १५६१ वाली प्रति अधूरी है अथवा इस प्रति के लिखे जाने के १०० वर्ष के अंदर बहुत सी साखियाँ आदि कबीरदासजी के नाम से प्रचलित हो गई थीं, जो कि

वास्तव में उनकी न थीं। यदि कबीरदासजी का निधन संवत् १५७५ में मान लिया जाता है तो यह बात असंगत नहीं जान पड़ती कि इस प्रति के लिखे जाने के अनंतर १४ वर्ष तक कबीरदासजी जीवित रहे और इस बीच में उन्होंने और बहुत से पद बनाए हों जो ग्रंथ-साहब में सम्मिलित कर लिए गए हों।

कबीरदासजी के दो चित्र मिले हैं—एक युवावस्था का और दूसरा वृद्धावस्था का। पहला चित्र कलकत्ता म्यूजियम से प्राप्त हुआ है और दूसरा मुझे कबीरपंथी स्वामी युगलानन्दजी से मिला है। मिलान करने से दोनों चित्र एक ही व्यक्ति के नहीं मालूम पड़ते, दोनों की आकृतियों में बड़ा अंतर है। यदि दोनों नहीं तो इनमें से कोई एक अवश्य अप्रामाणिक होगा, दोनों ही अप्रामाणिक हो सकते हैं; परंतु श्रीयुत युगलानन्दजी वृद्धावस्थावले चित्र के लिये अत्यन्त प्रामाणिकता का दावा करते हैं, जो ४६ वर्ष से अधिक अवस्थावाले व्यक्ति का ही हो सकता है। नहीं कह सकते कि यह दावा कहाँ तक साधार और सत्य है परंतु यदि यह ठीक है तो मानना पड़ेगा कि कबीरदासजी की मृत्यु संवत् १५०५ के बहुत पीछे हुई।

इन सब बातों पर एक साथ विचार करने से यह संभव जान पड़ता है कि कबीरदासजी का जन्म १४५६ में और मृत्यु संवत् १५७५ में हुई होगी। इस हिसाब से उनकी आयु ११६ वर्ष की होती है, जिस पर बहुत लोगों को विश्वास करने की

प्रवृत्ति न होगी परंतु जो इस युग में भी असंभव नहीं है।

यह कहा ही जा चुका है कि कबीरदासजी के जीवन की घटनाओं के संबंध में कोई निश्चित बात ज्ञात नहीं होती क्योंकि उन सबका आधार जनसाधारण, और विशेष कर कबीरपंथियों में प्रचलित दंतकथाएँ हैं। कहते हैं कि काशी में एक सात्विक ब्राह्मण रहते थे जो स्वामी रामानंदजी के बड़े भक्त थे। उनकी एक विधवा कन्या थी। उसे साथ लेकर एक दिन वे स्वामीजी के आश्रम पर गए। प्रणाम करने पर स्वामीजी ने उससे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया। ब्राह्मण देवता ने चौक कर जब पुत्री का वैधव्य निवेदन किया तब स्वामीजी ने सखेद कहा कि मेरा वचन तो अन्यथा नहीं हो सकता; परंतु इतने से संतोष करो कि इससे उत्पन्न पुत्र बड़ा प्रतापी होगा। आशीर्वाद के फलस्वरूप में जब इस ब्राह्मण-कन्या का पुत्र उत्पन्न हुआ तो लोकलज्जा और लोकापवाद के भय से उसने लहर तालाब के किनारे डाल दिया। भाग्यवश कुछ ही क्षण के पश्चात् नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उधर से आ निकला। इस दंपति के कोई पुत्र न था। बालक का रूप पुत्र के लिये लालायित दंपति के हृदयों पर चुभ गया और वे इसी बालक का भरण पोषण कर पुत्रवान् हुए। आगे चलकर यही बालक परम भगवद्भक्त कबीर हुआ। कबीर का विधवा ब्रह्मण-कन्या का पुत्र होना असंभव नहीं, किंतु स्वामी रामानन्दजी के आशीर्वाद की बात ब्राह्मण-कन्या का कलंक मिटाने के उद्देश्य से ही पीछे

से जोड़ी गई जान पड़ती है जैसे कि अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों के संबंध में जोड़ी गई है। मुसलमान घर में पालित होने पर भी कबीर का हिंदू विचारों में सराबोर होना उनके शरीर में प्रवाहित होनेवाले ब्राह्मण, अथवा कम से कम हिंदू रक्त की ही ओर संकेत करता है। स्वयं कबीरदास ने अपने माता पिता का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है, जहाँ कहीं उन्होंने अपने संबंध में कुछ कहा भी है वहाँ अपने को जुलाहा और बनारस का रहने वाला बतलाया है।

जाति जुलाहा मति को धीर। हरपि गुण रमै कबीर॥
मेरे राम की अभैपद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।
तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा।

परंतु जान पड़ता है कि उनकी हार्दिक इच्छा यही थी कि यदि मेरा ब्राह्मण कुल में जन्म हुआ होता तो अच्छा होता। पूर्व जन्म में अपने ब्राह्मण होने की कल्पना कर वे अपना परितोष कर लेते हैं। एक पद में वे कहते हैं—

पूरब जनम हम ब्राह्मण होते वोछे करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीना॥

ग्रंथ-साहब में कबीरदास का पद दिया है जिसमें कबीर-दास कहते हैं—"पहले दर्सन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई।" एक दूसरे पद में कबीरदास कहते हैं—"तोरे भरोसे मगहर बसियो मेरे तन की तपन बुझाई।" यह तो प्रसिद्ध है कि कबीरदास अंत में मगहर में जाकर बसे और वहीं उन का परलोकवास हुआ। पर "पहले दर्सन मगहर पायो पुनि

कासी बसे आई" में तो यह ध्वनि निकलती है कि उनका जन्म ही मगहर में हुआ था और फिर ये काशी में आकर बस गये और अंत में फिर मगहर जाकर परलोक सिधारे। तो क्या विधवा ब्राह्मणी के गर्भ में जन्म पाने और नीरु तथा नीमा से पालित पोषित होने की समस्त कथा केवल मनगढंत है और इसमें कुछ भी सार नहीं ? यह विषय विशेष रूप से विचारणीय है।

कुछ लोग कबीर को नीरु और नीमा का औरस पुत्र मानते हैं, परंतु इस मत के पक्ष में कोई ससार प्रमाण अब तक किसी ने नहीं दिया। स्वयं कबीर की एक उक्ति हम ऊपर दे चुके हैं जिससे उनका जन्म से मुसलमान न होना प्रकट होता है; परंतु "जौर खुदाई तुरक मोहि करता आपै कटि किन जाई" से यह ध्वनित होता है कि वे मुसलमान माता पिता की संतति थे। सब बातों पर विचार करने से इसी मत के ठीक होने की अधिक संभावना है कि कबीर ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और मुसलमान परिवार में लालित पालित हुए थे। कदाचित् उनका बालकपन मगहर में बीता हो और वे पीछे से आकर काशी में बसे हों, जहाँ से अंत काल के कुछ पूर्व उन्हें पुनः मगहर जाना पड़ा हो।

किंवदंती है कि जब कबीर भजन गा गाकर उपदेश देने लगे, तब उन्हें पता चला कि बिना किसी गुरु से दीक्षा लिये हमारे उपदेश मान्य नहीं होंगे क्योंकि लोग उन्हें 'निगुरा' कहकर चिढ़ाते थे। लोगों का कहना था कि जिसने गुरु से

उपदेश नहीं ग्रहण किया, वह औरों को क्या उपदेश देगा ? अतएव कबीर को किसी को गुरु बनाने की चिंता हुई। कहते हैं, उस समय स्वामी रामानन्दजी काशी में सबसे प्रसिद्ध महात्मा थे। अतएव कबीर ने एक चाल चली जो अपना काम कर गई। रामानन्दजी पंचगंगा घाट पर नित्यप्रति प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में ही स्नान करने जाया करते थे। उस घाट की सीढ़ियों पर कबीर पहले से ही जाकर लेट रहे। स्वामी जो जब स्नान करके लौटे तो उन्होंने अँधेरे में इन्हें न देखा। उनका पाँव इनके सिर पर पड़ गया जिस पर स्वामी जी के मुँह से 'राम राम' निकल पड़ा। कबीर ने चट उठकर उनके पैर पकड़ लिए और कहा कि आप राम नाम का मंत्र देकर आज मेरे गुरु हुए हैं। रामानन्दजी से कोई उत्तर देते न बना। तभी से कबीर ने अपने को रामानन्द का शिष्य प्रसिद्ध कर दिया।

'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताए' कबीर का यह वाक्य इस बात के प्रमाण में प्रस्तुत किया जाता है कि रामानन्दजी उनके गुरु थे। जिन प्रतियों के आधार पर इस ग्रंथावली का संपादन किया गया है, उनमें यह वाक्य नहीं है और न ग्रथ साहब ही में यह मिलता है। अतएव इसको प्रमाण मानकर इसके आधर पर कोई मत स्थिर करना उचित नहीं जँचता। केवल किंवदंती के आधार पर रामानन्दजी को उनका गुरु मान लेना ठीक नहीं। यह किंवदंती भी ऐतिहासिक जाँच के सामने ठीक नहीं ठहरती। रामानन्दजी की मृत्यु

अधिक से अधिक देर में मानने से संवत् १४६७ में हुई, इससे १४ या १५ वर्ष पहले भी उसके होने का प्रमाण विद्यमान है। उस समय कबीर की अवस्था ११ वर्ष की रही होगी; क्योंकि हम ऊपर उनका जन्म संवत् १४५६ सिद्ध कर आए हैं। ११ वर्ष के बालक का घूम फिर कर उपदेश देने लगना सहसा ग्राह्य नहीं होता। और यदि रामानन्दजी की मृत्यु संवत् १४५२—५३ के लगभग हुई तो यह किंवदंती झूठ ठहरती है: क्योंकि उस समय तो कबीर को संसार में आने के लिये तीन चार वर्ष रहे होंगे।

पर जब तक कोई विरुद्ध दृढ़ प्रमाण नहीं मिलते, तब तक हम इस लोकप्रसिद्ध बात को, कि रामानन्दजी कबीर के गुरु थे, बिल्कुल असत्य भी नहीं ठहरा सकते। हो सकता है कि बाल्यकाल में बार बार रामानन्दजी के साक्षात्कार तथा उपदेश-श्रवण से ('गुरु के सबद मेरा मत लागा') अथवा दूसरों के मुँह से उनके गुण तथा उपदेश सुनने से बालक कबीर के चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ गया हो जिसके कारण उन्होंने आगे चलकर उन्हें अपना मानस गुरु मान लिया हो। कबीर मुसलमान माता-पिता की संतति हों चाहे न हों किंतु मुसलमान के घर में लालित पालित होने पर भी उनका हिंदू विचार-धारा में आप्लावित होना उन पर, बाल्यकाल ही से किसी प्रभावशाली हिंदू का प्रभाव होना प्रदर्शित करता है।

हम भी पाहन पूजते होते वन के रोझ।
सतगुरु की किरपा भई सिर तैं उतर्‌या बोझ॥

से प्रगट होता है कि अपने गुरु रामानन्द से प्रभावित होने से पहले कबीर पर हिंदू प्रभाव पड़ चुका था जिससे वे मुसलमान कुल में परिपालित होने पर भी "पाहन" पूजने वाले हो गये थे। कबीर केवल लोगों के कहने से कोई काम करने वाले नहीं थे। उन्होंने अपना सारा जीवन ही अपने समय के अंध विश्वासों के विरुद्ध लगा दिया था। यदि स्वयं उनका हार्दिक विश्वास न होता कि गुरु बनाना आवश्यक है, तो वे किसी के कहने की परवा न करते। किन्तु उन्होंने स्वयं कहा है—

"गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै"

"गुरु बिन इह जग कौन भरोसा काके संग ह्वै रहिए।"

परंतु वे गुरु और शिष्य का शारीरिक साक्षात्कार आवश्यक नहीं समझते थे। उनका विश्वास था कि गुरु के साथ मानसिक साक्षात्कार से भी शिष्य के शिष्यत्व का निर्वाह हो सकता है—

"कबीर गुरु बसै बनारसी सिप समंदर तीर।
बिसर्‌या नहीं बीसरै जे गुण होई सरीर॥"

कबीर अपने आप में शिष्य के लिये आवश्यक गुणों का अभाव नहीं समझते थे। वे उन 'एक आध' में से थे जो गुरु के ज्ञान से अपना उद्धार कर सकते थे, जिनके संबंध में कबीर ने कहा है—

"माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि ह्वै पड़ंत।
कहैं कबीर गुरु ग्यान थैं, एक आध उबरंत॥"

मुसलमान कबीर पंथियों का कहना है कि कबीर ने सूफी फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। कबीर ने बनारस-निवासी होने का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस कारण ऊँजी के पीर और शेख तकी उनके गुरु नहीं हो सकते। 'घट घट में अविनासी सुनहु तको तुम शेख' में उन्होंने तको का नाम उस आदर से नहीं लिया है जिस आदर से गुरु का नाम लिया जाता है और जिसके प्रभाव से कबीर ने असंभव का संभव होना लिखा है—

गुरु प्रसाद सूई कै नाकैं हस्ती आवं जाहिं॥

बल्कि वे तो उलटे तकी को ही उपदेश देते हुए जान पड़ते हैं। यद्यपि यह वाक्य इस ग्रंथावली में कहीं नहीं मिलता फिर भी स्थान स्थान पर 'शेख' शब्द का प्रयोग मिलता है जो विशेष आदर से नहीं लिया गया है वरन् जिसमें फटकार की मात्रा ही अधिक देख पड़ती है। अतः तकी कबीर के गुरु तो हो नहीं सकते, हाँ यह हो सकता है कि कबीर कुछ समय तक उनके सत्संग में रहे हों, जैसा कि नीचे लिखे वचनों से भी प्रकट होता है। पर यह स्वयं कबीर के वचन हैं, इसमें भी संदेह है—

मानिकपुरहि कबीर बसेरी मदहति सुनि शेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना भूँसी सुनि पीरन के नामा॥

परंतु इसके अनंतर भी वे जीवन पर्यंत राम नाम रटते रहे जो स्पष्टतः रामानन्द के प्रभाव का सूचक है। अतएव स्वामी रामानंद को कबीर का गुरु मानने में कोई अड़चन

नहीं है; चाहे उन्होंने स्वयं उन्हीं से मंत्र ग्रहण किया हो अथवा उन्हें अपना मानस गुरु बनाया हो। उन्होंने किसी मुसलमान फकीर को अपना गुरु बनाया हो इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

धर्मदास और सुरत गोपाल नाम के कबीर के दो चेले हुए। धर्मदास बनिए थे। उनके विषय में लोग कहते हैं कि वे पहले मूर्तिपूजक थे, उनका कबीर से पहले पहल काशी में साक्षात्कार हुआ था। उस समय कबीर ने उन्हें मूर्तिपूजक होने के कारण खूब फटकारा था। फिर वृन्दावन में दोनों की भेंट हुई। उस समय उन्होंने कबीर को पहचाना नहीं; पर बोले—"तुम्हारे उपदेश ठीक वैसे ही हैं जैसे एक साधु ने मुझे काशी में दिए थे।" इस समय कबीर ने उनकी मूर्ति को, जिसे वे पूजा के लिये सदैव अपने साथ रखते थे, जमुना में डाल दिया। तीसरी बार कबीर स्वयं उनके घर बाँदागढ़ पहुँचे। वहाँ उन्होंने उनसे कहा कि तुम उसी पत्थर की मूर्ति पूजते हो जिसके तुम्हारे तालने के बाट हैं। उनके दिल में यह बात बैठ गई और वे कबीर के शिष्य हो गए। कबीर की मृत्यु के बाद धर्मदास ने छत्तीसगढ़ में कबीर पंथ की एक अलग शाखा चलाई और सुरत गोपाल काशी वाली शाखा की गद्दी के अधिकारी हुए। धीरे धीरे दोनों शाखाओं में बहुत भेद हो गया।

कबीर कर्मकांड को पाखंड समझते थे और उसके विरोधी थे; परंतु आगे चलकर कबीरपंथ में कर्मकांड की प्रधानता हो

गई। कंठी और जनेऊ कबीरपंथ में भी चल पड़े। दीक्षा से मृत्यु-पर्यंत कबीरपंथियों का कर्मकांड की कई क्रियाओं का अनुसरण करना पड़ता है। इतनी बात अवश्य है कि कबीरपंथ में जात पांत का कोई भेद नहीं और हिंदू मुसलमान दोनों धर्म के लोग उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। परंतु ध्यान रखने की बात यह है कि कबीरपंथ में जाकर भी हिंदू मुसलमान का भेद नहीं मिट जाता। हिंदू धर्म का प्रभाव इतना व्यापक है कि उससे अलग होने पर भी भारतीय नए नए मत अत में उसके प्रभाव से नहीं बच सकते।

कबीर के साथ प्रायः लोई का भी नाम लिया जाता है कुछ लोग कहते हैं कि यह कबीर की शिष्या थी और आजन्म उनके साथ रही। अन्य इसे उनकी परिणीता स्त्री बताते हैं और कहते हैं कि इसके गर्भ से कबीर को कमाल नाम का पुत्र और कमाली नाम की पुत्री हुई। कबीर ने लोई को संबोधन करके कई पद कहे हैं। एक पद में वे कहते हैं—

रे यामें क्या मेरा क्या तेरा, लाज न मरहिं कहत घट मेरा।

❀ ❀ ❀

कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम बिनसि रहेगा सोई॥

इसमें लोई और कबीर का एक घट होना कहा गया है जिससे लोई का कबीर की स्त्री होना ही अधिक संभव जान पड़ता है। कबीर ने कामिनी की बहुत निंदा की है। संभवतः इसी लिये लोई के संबंध में उसकी पत्नी के स्थान में शिष्या होने की कल्पना की गई है।

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासै होई।
भगति मुकति निज ज्ञान मैं, पैसि न सकई कोई॥
एक कनक अरु कामिनि, विष फल कीएउ पाइ।
देख ही थैं विष चढ़े, खाए सूँ मरि जाइ॥

परंतु कामिनी कांचन की निंदा के उनके वाक्य वैराग्यावस्था के समझने चाहिए। यह अधिक संगत जान पड़ता है कि लोई कबीर की पत्नी थी जो कबीर के विरक्त होकर नवीन पंथ चलाने पर उनको अनुगामिनी हो गई। कहते हैं कि लोई एक बनखंडी वैरागी की परिपालिता कन्या थी। लोई में लपेटी और टोकरी में रखी हुई गंगाजी में बहती हुई मिली थी। लोई में लपेटी हुई मिलने के कारण ही उसका नाम लोई पड़ा था। बनखंडी वैरागी की मृत्यु के बाद एक दिन कबीर उसकी कुटिया में गए। वहाँ अन्य संतों के साथ उन्हें भी दूध पीने को दिया गया, औरों ने तो दूध पी लिया, पर कबीर ने अपने हिस्से का रख छोड़ा। पूछने पर उन्होंने कहा कि गंगा पार से एक साधु आ रहे हैं; उन्हीं के लिये रख छोड़ा है। थोड़ी देर में सचमुच एक साधु आ पहुँचा जिससे अन्य साधु कबीर की सिद्धाई पर आश्चर्य करने लगे। उसी दिन से लोई इनके साथ हो ली।

कबीर की संतति के विषय में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। कहते हैं कि उनका पुत्र कमाल उनके सिद्धांतों का विरोधी था। इसी से कबीर ने कहा है—

डूबा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमिरन छाँड़ि के, घर ले आया माल॥

इस दोहे के भी कबीर-कृत होने में सन्देह ही है। परंतु कमाल के कई पद ग्रंथ-साहब में सम्मिलित किए गए हैं।

कबीर के विषय में कई आश्चर्यजनक कथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे उनमें लोकोत्तर शक्तियों का होना सिद्ध किया जाता है। महात्माओं के विषय में प्रायः ऐसी कल्पनाएँ की ही जाती हैं। यद्यपि इस युग में इस प्रकार की बातों पर शिक्षित और समझदार लोग विश्वास नहीं करते; परंतु फिर भी महात्मा गांधी से विषय में भी असहयोग के समय में एसी कई गप्पें उड़ी थीं। अतएव हम उन सबका उल्लेख करके व्यर्थ ही इस प्रस्तावना का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं समझते। यहाँ एक ही कथा दे देना पर्याप्त होगा जिसके लिये कुछ स्पष्ट आधार भी है।

कहते हैं कि एक बार सिकंदर लोदी के दरबार में कबीर पर अपने आपको ईश्वर कहने का अभियोग लगाया गया। काजी ने उन्हें काफिर बताया और उनको मसूर हल्लाज की भाँति मृत्यु दंड की आज्ञा हुई। बेड़ियों से जकड़े हुए कबीर नदी में फेंक दिए गए। परंतु जिन कबीर को माया मोह की शृंखला न बाँध सकती थी, जिनकी पाप की बेड़ियाँ कट चुकी थीं उन्हें ये जंजीरें बाँधे न रख सकीं और वे तैरते हुए नदी तट पर आ खड़े हुए। अब काजी ने उन्हें धधकते हुए अग्निकुण्ड में डलवाया। किंतु उनके प्रभाव से आग बुझ गई

और कबीर की दिव्य देह पर आँच तक न आई। उनके शरीर-नाश के इस उद्योग के भी निष्फल हो जाने पर उन पर एक मस्त हाथी छोड़ा गया। उनके पास पहुँच कर हाथी उन्हें नमस्कार कर चिंघाड़ता हुआ भाग खड़ा हुआ। इस कथा का आधार कबीर का यह पद कहा जाता है—

अहो मेरे गोव्यंद तुम्हारा जोर, काजी बकिवा हस्ती तोर ॥
बाँधि भुजा भलैं करि डारयौ, हस्ती कोपि मूँड़ मैं मारयौ ॥
भाग्यो हस्ती चीसा मारी, वा मूरति की मैं बलिहारी ॥
महावत तोकूँ मारौं साँटी, इसहि मराऊँ घालौं काटी ॥
हस्ती न तोरै धरै धियान, वाकै हिरदै बसै भगवान ॥
कहा अपराध संत हौ कीन्हाँ, बाँधि पोट कुञ्जर कू दीन्हाँ ॥
कुंजर पोट बहु बंदन करै, अजहूँ न सूझै काजी अँधरै ॥
तीन बेर पतियारा लीन्हां, मन कठोर अजहूँ न पतीनां ॥
कहै कबीर हमारै गोव्यंद, चौथे पद मैं जन को गयंद ॥

परंतु यह पद प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलता। यदि यह कबीरजी का ही कहा हुआ है तो इस पद से केवल यह प्रकट होता है कि उनको मारने के तीनों प्रयत्न हाथी ही के द्वारा किए गए थे, क्योंकि इसमें उनके नदी में फेंके जाने या आग में जलाए जाने का कोई उल्लेख नहीं है।

ग्रंथ-साहब में कबीरजी का यह पद भी मिलता है जो गंगा में जंजीर से बाँधकर फेंके जानेवाली कथा से संबंध रखता है।

गंग गुसाइन गहिर गँभीर। जंजीर बाँधि करि खरे कबीर ॥
गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर। मृगछाला पर बैठे कबीर ॥

कबीर का जीवन अंध विश्वासों का विरोध करने में ही बीता था। अपनी मृत्यु से भी उन्होंने इसी उद्देश्य की पूर्ति की।

काशी मोक्षपुरी कही जाती है। मुक्ति की कामना से लोग काशीवास करके यहाँ तन त्यागते हैं और मगहर में मरने का अनिवार्य परिणाम या फल नरक-गमन माना जाता है। यह अंधविश्वास अब तक चला आता है। कहते हैं कि इसीके विरोध में कबीर मरने के लिये काशी छोड़कर मगहर चले गए थे। वे अपनी भक्ति के कारण ही अपने आप को मुक्ति का अधिकारी समझते थे। उन्होंने कहा भी है—

जौ कासी तन तजै कबीरा तौ रामहिं कहा निहोरा रे!

इस अंधविश्वास का उन्होंने जगह जगह खंडन किया है—

(क) हिरदै कठोर मर्‌या बनारसी नरक न बंच्या जाई।
हरि को दास मरै जो मगहर सेन्या सकल तिराई॥

(ख) जस कासी तस मगहर ऊसर हृदय रामसति होई।

—आदि। ग्रंथ में उनका नीचे लिखा पद मिलता है—

ज्यों जल छाड़ि बाहर भयो मीना। पूरब जनम हौं तप का हीना॥
अब कहु राम कवन गति मोरी। तजिले बनारस मतिभइ थोरी॥
बहुत बरस तप कीया कासी। मरनु भया मगहर को बासी॥
कासी मगहर सम बीचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी॥
कहु गुरगजि सिव संभु को जानै। मुआ कबीर रमता श्री रामै॥

कबीर के ये वचन मरने के कुछ ही समय पहले के जान पड़ते हैं। आरंभिक चरणों में जो क्षोभ प्रकट किया गया है, वह इस लिये नहीं कि बनारस में मरने से उन्हें मुक्ति की

आशा थी, वरन् इसलिये कि बनारस उनका जन्मस्थान था जो सभी को अत्यंत प्रिय होता है। बनारस के साथ वे अपना संबंध वैसा ही घनिष्ठ बतलाते हैं जैसा जल और मछली का होता है। काशी और मगहर को वे अब भी समान समझते थे। अपनी मुक्ति के संबंध में उन्हें तनिक भी संदेह नहीं था; क्योंकि उन्हें परमात्मा की सर्वज्ञता में अटल विश्वास था 'शिव सम को जानै', और राम नाम का जाप करते करते वे शरीर त्यागने जा रहे थे। 'मुआ कबीर रमता श्री राम'।

उनकी अंत्येष्टि क्रिया के विषय में एक बहुत ही विलक्षण प्रवाद प्रसिद्ध है। कहते हैं कि हिंदू उनके शव का अग्नि-संस्कार करना चाहते थे और मुसलमान उसे कब्र में गाड़ना चाहते थे। झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि तलवार चलने की नौबत आ गई। पर हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के प्रयासी कबीर की आत्मा यह बात कब सहन कर सकती थी। उस आत्मा ने आकाश-वाणी की—'लड़ो मत कफन उठाकर देखो !!' लोगों ने कफन उठाकर देखा तो शव के स्थान पर एक पुष्प-राशि पाई गई जिसको हिंदू-मुसलमान दोनों ने आधा आधा बांट लिया। अपने हिस्से के फूलों को हिंदुओं ने जलाया और उनकी राख को काशी ले जाकर समाधिस्थ किया। वह स्थान अब तक कबीर-चोरा के नाम से प्रसिद्ध है। अपने हिस्से के फूलों के ऊपर मुसलमानों ने मगहर ही में कब्र बनाई। यह कहानी भी विश्वास करने योग्य नहीं है परंतु इसका मूल भाव अमूल्य है।

---

(३) गोस्वामी तुलसीदास

हिंदी-भाषा की संपूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखलाने वाले और हिंदी-साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठाने वाले भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में थे। यद्यपि अपनी अद्भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गए हैं, और यद्यपि आज तीन सौ वर्षों में उनकी कीर्तिश्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरंतर बढ़ती ही जाती है, तथापि उनकी लौकिक जीवन-गाथा का उल्लेख संक्षेप में आवश्यक है। उनका जीवन-चरित्र लिखनेवाले महात्मा रघुबरदास, समकालीन शिष्य बाबा बेणीमाधवदास, अयोध्या के कुछ रामायणी भक्त तथा मिरजापुर के पं० रामगुलाम द्विवेदी आदि सज्जन जनश्रुतियों के आधार पर गोस्वामीजी की जीवनगाथा के निर्माण में सहायक हुए हैं। शिवसिंह सेंगर और डाक्टर ग्रियर्सन के प्रारंभिक अनुसंधानों से उनकी जीवनी पर जो प्रकाश पड़ता है, वह भी उपेक्षा योग्य नहीं। इस बाह्य साक्ष्य को लेकर जब हम गोस्वामीजी के ग्रंथों की जाँच पड़ताल करते हैं और उनमें उनकी जीवनी के संबंध में आए हुए संकेतों से उस बाह्य साक्ष्य को मिलाकर देखते हैं तब उनके जीवन की अनेक घटनाओं का निश्चय हो जाता है और इस प्रकार उनकी बहुत कुछ

प्रामाणिक जीवनी तैयार हो जाती है। परंतु इस जीवनी से पूरा पूरा संतोष नहीं होता, क्योंकि वह केवल उनके जीवन की असंबद्ध घटनाओं का संग्रहमात्र होती है, उससे उनके मानसिक और कलासंबंधी क्रम-विकास का पता नहीं चलता।

गोसाईं-चरित तथा तुलसी-चरित दोनों के अनुसार गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ और स्वर्गवास संवत् १६८० ठहरता है। तुलसीदास युक्त-प्रांत के बांदा जिले में राजापुर गाँव के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौंजा के दूबे और इनकी माता हुलसी थीं, जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लड़कपन में ही इनके माता पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है जिसमें उनके अभुक्त मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है पर बाबा वेणीमाधवदास ने इस घटना पर पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रयहीन इधर उधर घूमते फिरने और इसी समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामीजी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामीजीने रामचरित-मानस के प्रारंभ में किया है। संभवतः उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेष सनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशीनिवासी थे और महात्मा रामानंद के आश्रम में रहते

थे। स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा-दीक्षा पाकर गोस्वामीजी भी इसी मत के अवलंबी बने। इनका अध्ययन काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर गोस्वामीजी युवा अवस्था में घर लौटे, क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

गोस्वामीजी के विवाह के संबंध में कुछ शंका की जाती है। शंका का आधार उनका "व्याह न बरेखी जाति पाँति ना चहत हौं" पद्यांश माना जाता है। परंतु उनके विवाह और विवाहित जीवन के संबंध में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है और स्त्री ही के कारण इनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसीदास का प्रेम-विह्वल होकर घोर वर्षा में अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी-द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़ कर चल देना भक्तमाल की टीका और बेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित है। यही नहीं, वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामीजी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है:—

खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलिकै, अचल करहु अनुराग॥

यह सब होते हुए भी कुछ आलोचकों की सम्मति में

तुलसीदास के विवाह की बात भ्रांत जान पड़ती है। उनके ग्रंथों में स्त्रियों के संबंध में जो विरोधनात्मक उद्गार पाए जाते हैं, उनका आधार ग्रहण कर यह कहा जाता है कि गोस्वामीजी जन्म भर बैरागी रहे, स्त्री से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्गुणों से परिचित नहीं हो सके। वही उनके विरोधनात्मक उद्गारों का कारण है। परंतु यह सम्मति विशेष तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ती। गोस्वामीजी ने स्त्रियों की प्रशंसा भी की और निंदा भी। विवाह न करने से ही स्त्रियों के संबंध में किसी के कटु अनुभव होते हैं, यह बात नहीं है। सब से महत्वपूर्ण बात तो यह कि विवाह के संबंध में बाह्य और आभ्यंतर साक्ष्य मिलते हैं और जनश्रुतियाँ उनका अनुमोदन करती हैं। स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गए और घर छोड़कर देश के अनेक भूभागों तथा तीर्थों में घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था; उत्तर में मानसरोवर, दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में उनकी वृत्ति अतिशय रमी थी जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवासस्थान थे जहाँ ये वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा, वृंदावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी आपने यात्रा की थी और यहीं कहीं इनकी "कृष्णगीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिए थे और बड़े बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि

जब एक बार यह चित्रकूट में थे तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आए। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

अंत में ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ "रामचरितमानस" लिखने बैठे। इसे उन्होंने लगभग ढाई वर्षों में समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिये कि संस्कृत के विद्वान् इस समय भाषा कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में इनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है। 'रामचरितमानस' लिख चुकने के उपरांत गोस्वामीजी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित्र का चित्रण कर लोक धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधना के क्षेत्र में आकर आत्म-निवेदन की ओर खिंचे। उनकी विनय-पत्रिका इसी समय की रचना है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर, प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर जोर देकर गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रंथ

बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामीजी ने लौकिक पद्धति का अनुकरण किया और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टरपन की शृङ्खला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करनेवालों में गोस्वामीजी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामीजी ने काशी में गोपालमंदिर में की थी। गोस्वामीजी की मृत्यु काशीजी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदास भी उसमें आक्रांत हुए थे। प्लेग उन्हें हो गया था पर कहा जाता है कि महावीर जी की वंदना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी परंतु वे इसके उपरांत अधिक दिन तक जीवित नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक मतभेद है। अनुप्रास-पूरित इस दोहे के अनुसारः—

संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परंतु वेणीमाधवदास के गोसांई-चरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत १६८० की श्रावण श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक ही ठहरी; क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा और गोस्वामीजी के घनिष्ट मित्र टोडर

के वंश में तुलसीदासजी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है। वह सीधा श्रावण के कृष्ण पक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है, "सावन शुक्ला सप्तमी" को नहीं।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापाक प्रभाव भारतीय जनता पर है इसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही इसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नानापुराणनिगमागमसंमत" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समयके अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परंतु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है, साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्मग्रंथों की विशेषतः अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुशुंडिरामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्मग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत

चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है। गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर घर है। गोस्वामीजी का स्थायित्व और गौरव उसी पर सबसे अधिक अवलंबित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एकमात्र धर्मग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखने वाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती हैं। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रन्थ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सबमें समान रूप से लक्षित होती है, पर रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंतर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिये, राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु भाई आदि पारिवारिक संबंध का कैसा निर्वाह होना चाहिये—आदि जीवन के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रथ में मिलता है। हिंदुओं के सब देवता, सब रीति-नीति, वर्णाश्रम-व्यवस्था तुलसीदासजी को सब स्वीकार हैं।

शिव उनके लिये उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञान-मार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिंदू धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्म्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनंदमय होकर हम इसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर भारत में; स्वल्प संख्या द्वारा नहीं, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज-कल उनका रामचरितमानस सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है। गोस्वामी जी के रामचरितमानस व विनयपत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, रामाज्ञाप्रश्न आदि बड़े ग्रंथ तथा बरवै रामायण, रामललानहछू, कृष्णगीतावली, वैराग्यसंदीपिनी, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल छोटी रचनायें प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंह सरोज में किया गया है परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्त हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों में सम्मिलित हो गई हैं तथा कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रंथ गोस्वामीजी-रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा वेणीमाधवदास ने गोस्वामीजी की "रामसतसई" का भी उल्लेख किया है

कुछ लोगों का कहना है कि इसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के समान नहीं है; क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आए हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय होते हैं, गोस्वामी जैसे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी वेणीमाधवदास का साक्ष्य एकदम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है कि गोस्वामीजी ने नर-काव्य नहीं किया केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है। "कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना" का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामीजी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग रामगुण-कीर्तन में ही किया है, पर रामचरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श फूट निकले हैं वे मनुष्य-मात्र के लिये कल्याणकर हैं। यही नहीं, रामचरित्र के बाहर भी जाकर उन्होंने मानव-समाज के लिये हितकर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निंदा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुंदर पुष्टि शिष्य

द्वारा गुरु की अवहेलना को दंडित करने की है; रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रक्खा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी की मनुष्य-समाज के प्रति हितकामना स्पष्टत: झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्यों में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है स्वांत:-सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्वप्रदर्शन की कामना से जो कविता को जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं से होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का प्रदर्शन करने वाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेने वाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसीदास की अपेक्षा अधिक संकुचित है और सूरदास के उद्गार सत्य और सबल होते हुए भी इतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिंदी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामीजी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो सकता है।

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्-भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामा-यण की कथा उन्हें वाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी, परंतु इसमें भी गोस्वामीजी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं। हनुमान की सीता की खोज में लंका जाने की कथा तो वाल्मीकि-रामायण में भी है परंतु सीताजी की शोकविह्वल अवस्था में उनका अशोक के ऊपर से अँगूठी गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर उठा लेना स्वामीजी की उद्-भावना है। ऐसे ही अन्यत्र भी अन्य अन्य चमत्कारपूर्ण परिवर्तन हैं। गोस्वामीजी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता रामचरितमानस की मथरा में देख पड़ती है। भरत का आदर्श चरित्र खड़ा करने और कैकेयी के आत्म-ग्लानि दिखलाने में गोस्वामीजी को स्वतत्र पथ का अनुसरण करना पड़ा है। सुग्रीव और विभीषण के चरित्रों से जितनी सहानुभूति इन्हें है उतनी वाल्मीकि को नहीं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है; परंतु गोस्वामीजी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंध निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि-रामायण के आधार पर जो ग्रंथ अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे गये, उनमें और गोस्वामी-

जी की रचनाओं में महान् अन्तर है। उत्कट राम-भक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो प्रवाह सा बहा है वह तो वाल्मीकि रामायण से अधिक गंभीर और पूत है।

जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परंतु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे। अतः कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थानों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का प्रयोग किया है। इससे इनके रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनकी राम-चरितमानस की बात। इनकी विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में ब्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह ब्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनायें इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा में अपनी संस्कृत-पदावली का संमिश्रण किया और इसे उपर्युक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और ब्रज-भाषा तक ही परिमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले उन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छंदभेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रक्खा है। परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लम्बे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद-परिवर्तन की ओर ध्यान रक्खा है। रामचरितमानस के लंका-कांड में जो युद्ध वर्णन है इसमें चंद आदि वीर कवियों के छंद भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छंदों में कथा कही गई है, जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। कवितावली में राजा राम की राजश्री का जो विशद वर्णन है उसके अनुकूल कवित्त छंद का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रजभाषा के सगुणो-पासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लीरिक कविता आरंभ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक इसी प्रकार हिंदी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग-रागनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदासजी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिए हैं अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह है कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छंदों का प्रयोग किया है। इस कार्य्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मय-

कारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजन शक्ति गोस्वामीजी की रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

तुलसीदासजी के महत्व का ठीक ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों के परीक्षा करनी पड़ेगी—भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के ग्रहण और व्यंजन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है जिसके परिणामस्वरूप हम उपसंहार में कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छंदों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उन की बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है।

गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी

से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्मग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू जाति, हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति को अक्षण्ण रखने वाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उन की यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी के हृदय-पटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परंपरा क्रमवद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का संबंध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक काल विशेष के कवियों को यदि हम फलस्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्त्ती ग्रंथकारों को फूलस्वरूप मानना पड़ेगा। फिर ये फूलस्वरूप ग्रंथकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के फलस्वरूप और उत्तर वर्ती ग्रंथकारों के फूलस्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला जायगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धांत को सामने रख कर यदि हम तुलसीदासजी के संबंध में विचार करते हैं तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदासजी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिंदी-साहित्य का पूर्ण विकास संपन्न हो गया है और उनके अनंतर फिर क्रमोन्नत विकास की परंपरा बंद हो गई तथा इसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई।

सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदास में हिंदी कविता की जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई। उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी नकल करने वाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी नहीं हुआ कि जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिंदी कविता के कीर्ति मंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हमको गोस्वामीजी को हिंदी कवियों की रत्नमाला का सुमेरु मानकर ही पूर्व कथित साहित्यविकास के सिद्धांत की समीक्षा करनी पड़ेगी।

---

(४) सूरदास

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रथम, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। परंपरा के अनुसार इनका जन्म काल संवत् १५२६ माना जाता है। इनका जन्म सीही ग्राम में हुआ था। वहाँ से रुनकता और गऊघाट पर रहे। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई इन्हें महाकवि चंद बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के संबंध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्म से अंधे थे; पर एक बार जब वे कूएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए थे और वे दृष्टिसंपन्न हो गए थे। परंतु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किए, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्टकूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कूएँ में गिरने के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस

सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदास में हिंदी कविता की जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई। उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी नकल करने वाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी नहीं हुआ कि जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिंदी कविता के कीर्ति मंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हमको गोस्वामीजी को हिंदी कवियों की रत्नमाला का सुमेरु मानकर ही पूर्व कथित साहित्यविकास के सिद्धांत की समीक्षा करनी पड़ेगी।

---

(४) सूरदास

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रथम, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। परंपरा के अनुसार इनका जन्म-काल संवत् १५२६ माना जाता है। इनका जन्म सीही ग्राम में हुआ था। वहाँ से रुनकता और गऊघाट पर रहे। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई इन्हें महाकवि चंद बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के संबंध में यह प्रवाद प्रचलित है कि ये जन्म से अंधे थे; पर एक बार जब वे कूएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए थे और वे दृष्टिसंपन्न हो गए थे। परंतु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किए, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्टकूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कूएँ में गिरने के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस

चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है। जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी जब तक वे वैरागी के वेष में रहा करते। तब से ये उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्यप्रति अपने उपास्य देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें प्रतिभा का नवनवोन्मेष भरा हुआ है; उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परंतु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद पुत्र सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। सूरसागर श्रीमद्भागवत का अनुवाद नहीं है पर इसमें उसकी संपूर्ण कथाओं का सन्निवेश किया गया है और इसका प्रधान आधार वही है। श्रीमद्भागवत की ही भाँति यह बारह स्कंधों में विभक्त भी है, पर यह विभाजन पीछे के संग्रहकार भक्तों द्वारा किया हुआ मालूम होता है। पहले हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि राधा का नाम श्रीमद्भागवत में नहीं है, सूरसागर तथा वल्लभ सम्प्रदाय के अन्य कवियों में

उसका प्रसंग ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा विष्णुस्वामी और निंबार्क सम्प्रदायों के प्रभाव से ही आया। सूरसागर में भागवत की संपूर्ण कथाओं का समावेश होते हुए भी उसमें कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुल त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में विशेष विस्तार से कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः सूरसागर को हम गीत-काव्य कह सकते हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार छोटे-छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरक्षेप होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है पर उसमें गाथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती, केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है। उसके संपूर्ण कथा-प्रवाह की दृष्टि से यदि उसे प्रबंध काव्य कहना चाहें तो गीत प्रबंध कहा जा सकता है।

सूरसागर के आरंभिक नव स्कंधों में विनय के पद, सृष्टि-

क्रम तथा चौबीस अवतारों का वर्णन, आर्यावर्त के नृपतियों का पौराणिक परिचय, भागवत पुराण की आध्यात्मिक व्याख्या आदि के विषय आए हैं। इनमें मुख्यतः श्रीमद्-भागवत का ही तथा कहीं-कहीं कुछ अन्य पुराणों का अनु-सरण किया गया है। दशम स्कंध में कृष्ण-जन्म से कथा का आरंभ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँच कर कृष्ण धीरे-धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन सूरदास ने किया है। उतना हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हे दाँत जमेंगे, कब यह माँ कहकर पुकारेगा, कब घुटनों के बल घर भर रेंगता फिरेगा आदि आदि—

जसुमति मन अभिलाख करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नंदहि कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै आपन कर सों मुखहि भरै।
कब हँसि बात कहैगो मोसों छवि पेखत दुख दूरि टरै।

माँ बालक को दूध पिलाती है, न पीने पर उसे चोटी बढ़ने का लालच दिखाती है। कितनी ही बार दूध पीने पर भी चोटी नहीं बढ़ती तो कृष्ण पूछते हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बैनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।

माता कृष्ण को गोद में लिए आँगन में खड़ी आकाश का चंदा दिखलाती है तो बालक कृष्ण उसे लेने के लिये हठ करते हैं—

ठाढ़ी अजिर जसोदा अपनें हरिहिं लिए चंदा दिखरावत।
रोवत कत बलि जाऊँ तुम्हारी देखौं धौं भरि नैन जुड़ावत॥

× × × ×

मनहीं मन हरि बुद्धि करत हैं माता सौं कहि ताहि मँगावत।
लागी भूख चंद मैं खैहौं देहि-देहि रिस करि बिरुझावत॥

वे किसी प्रकार नहीं मानते तो माता—

जलपुट आनि धरनि पर राख्यौ, गहि आन्यौ वह चंद दिखावै।
सूरदास प्रभु हँसि मुसुक्याने, बार-बार दोऊ कर नावैं॥

कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य सूक्ष्म भावों से युक्त अनेक रसपूर्ण पद कहे गए हैं। इन्हीं से उस युग की संस्कृति का निर्माण हुआ था, और इनमें उसका पूर्ण प्रति-बिंब भी मिलता है। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिंब देखकर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाँघ पाते। कृष्ण और बड़े होते हैं, वे घर से बाहर जाते, गोप सखाओं के साथ खेलते-कूदते और बाल-चापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखनचोरी आदि प्रसं..

में गोपिकाओं के प्रेम की व्यंजना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। यशोदा बालक का पक्ष लेकर उसे निर्दोष बताती हैं तब वे मुख मोड़कर मुसकराती हुई चली जाती हैं—

मेरौ गोपाल तनक सौ कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वारिन जीभ करै किन थोरी॥
कब सीकैं चढ़ि माखन खायौ कब दधि मटुकी फोरी।
अँगुरी करि कबहूँ नहिं चाखहु घरहिं भरी कमोरी॥
इतनी सुनत घोष की नारी रहसि चली मुख मोरी।
सूरदास जसुदा कौ नंदन जो कछु करै सो थोरी॥

ग्वालिन कृष्ण को चोरी करते पकड़ पाती हैं—

चोरी करत कान्ह धरि पाए।
निसि बासर मोहिं बहुत सतायौ अब हरि हाथहिं आए।

× × × ×

दोऊ भुज पकरि कह्यौ कहँ जैहौ माखन लेउँ मँगाई।
तेरी सौं मैं नैकु न खैहौं, सखा गए सब खाई॥
मुख तन चितै बिहँसि हरि दीन्हौं रिस तब गई बुझाई।
लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाई॥

ऐसे अनेक सरस चित्रों से सूरसागर भरा हुआ है।

प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे ब्रजमंडल

में सबके स्नेहभाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से बाहर बढ़कर पशुओं के जगत तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुनाकुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की जो सुंदर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेह लीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवतः संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। व्रजमंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का व्रजनिवास स्वर्ग को भी ईर्ष्यालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रासलीला में सम्मिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उस में कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की मुरली चुराती, कोई उन्हें अबीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गूँथते, किसी की आखें मूँद लेते और किसी को कदंब के तले वंशी बजाकर सुनाते हैं। एकाध बार इन्हें लज्जित करने की इच्छा से चीर हरण भी करते हैं। गोपी-कृष्ण की यह संयोगलीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरांत वियोग होता है। कृष्ण वृंदावन छोड़ कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न हो जाने के कारण प्यारी गोपियों को भूल से जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल, नित्य प्रति उनके आने की प्रतीक्षा में दिन

काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग्य उन्हें कुछ देर के लिये विचलित कर देता है। उद्धव उन्हें ज्ञान समझाने आते हैं, पर उनके ज्ञानोपदेश को वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनंत सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे उन्हें भूल नहीं सकतीं। यह अनन्त प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

गोपी-विरह के पद भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन में गंभीर तथा विदग्धतापूर्ण विरह की सूक्ष्म से सूक्ष्म दशाओं की जैसी सुंदर व्यंजना हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रसंग में सूरदास ने गोपियों के मुख से जिस कौशल और व्यंग के साथ निर्गुण मत की शुष्कता दिखलाई है वह भी देखते ही बनती है। गोपियों को विश्वास नहीं होता कि प्रियतम कृष्ण हमें दर्शन न देकर हमारे लिये वियोग का संदेसा भेजेंगे, पर जब उद्धव अपनी बात कहते ही जाते हैं तो वे उन्हें निपट मूर्ख समझ लेती हैं और उन्हें संदेह हो जाता है कि कृष्ण ने जानबूझ कर इसे मूर्ख बनाने के लिए भेजा है। इसका पक्का निश्चय करने के लिए वे कितनी चतुराई से पूछती हैं कि क्या श्याम तुम्हें यहाँ भेजते समय कुछ मुसकराये थे?

ऊधो जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्यां नाहिं पठाए तुम हो बीच भुलाने॥
ब्रजवासिन सों जोग कहत हो बातहु कहत न जाने।
हम सों कही लई सो सहि कै जिय गुनि लेहु अपाने॥

साँच कहौ तुमको अपनी सौं बूझतिं बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हें पठाए तब नेकहु मुसुकाने॥

उपर्युक्त कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का वध कर डालते हैं। आगे चल कर केशी, बकासुर आदि दैत्यों के वध और कालिय-दमन आदि प्रसंगों को लाकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परंतु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णनों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं, वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा-बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दंड देती हैं, तब वे रोते-कलपते हुए उसे झेलते हैं। इसी प्रकार जब गोचारण के समय उनके लिये छाक आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सबको बाँट कर खाते हैं और किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका सम्मान भाव बराबर बना रहता है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है, राम-चरितमानस की भाँति उसमें लोकादर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में राम-कथा भी कही है; पर वह

वैसी ही बन पड़ी है, जैसी तुलसी की कृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त उनके कुछ दृष्टकूट और कूट पद भी हैं जिसकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्न श्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिंदी कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिये उनका बृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्यका जैसा सरल और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल अकृत्रिम प्रभाव भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गंभीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं की, पर मनुष्यजीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परंतु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी, सर्वकालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्ण-भक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आपसे आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष करते रहे हैं। सूरदास हिंदी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़ कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है,

यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर व्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने व्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर इनको पूर्ण साहित्यिक बना दिया है। परंतु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्णचरित्र में उतनी विविधता न हो किन्तु प्रेम की मंजु छवि का जैसा अंतर-बाह्य चित्रण सूरदास ने किया है वह भी अद्वितीय है। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत निकटवर्ती क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार-दशाओं की अधिकता तुलसी तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के काव्य में प्राप्त होती है। पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। दोनों ही हमारे सर्वश्रेष्ठ जातीय कवि हैं। सूरदास के संबंध में कहे गए निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—

सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केशवदास।
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

(५) हिन्दी गद्य के आदि आचार्य

हिंदी के आधुनिक गद्य-साहित्य का इतिहास अभी कोई डेढ़ सौ वर्ष पुराना है। यद्यपि गद्य का आरंभ तो उसी दिन से हो जाता है, जिस दिन से मनुष्य बोलने लगता है और यद्यपि साहित्य के कामों के लिये हिंदी-गद्य का प्रयोग कई शताब्दी पुराना मिलता है, पर उसको आधुनिक साहित्यिक रूप देने का काम कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले किया गया था।

हिंदी-साहित्य के निर्माण का काम एक ओर अवधी और दूसरी ओर ब्रज-भाषा में किया गया। खड़ी बोली तो केवल बोलचाल की भाषा थी। उसमें साहित्य-निर्माण का काम प्राचीन समय में बहुत कम अथवा नाम-मात्र हुआ था। इसी लिये प्राचीन गद्य जो कुछ मिलता है, वह विशेषकर ब्रज-भाषा में ही लिखा मिलता है।

भारतवर्ष का भाषा-संबंधी इतिहास बड़ा ही विचित्र और मनोरंजक है। यह कहावत कि इतिहास की उद्धरणी होती रहती है अर्थात् ऐतिहासिक घटनाएँ समान स्थिति पाकर घूम-घूम कर होती रहती हैं, जितनी भारतवर्ष के भाषा-संबंधी इतिहास पर चरितार्थ होती है, उतनी दूसरी किसी बात में इतनी स्पष्ट नहीं लगती। वैदिक युग की बोलचाल की भाषा को लेकर जब वेदों की रचना हुई, तब मानों वैदिक साहित्य की भाषा की नींव डाली गई। उसी पर साहित्य की भाषा

का प्रासाद खड़ा किया गया। समय पाकर उसने संस्कृत का रूप धारण किया। इस प्रकार साहित्य की भाषा अपने ढंग पर विकसित होती चली; पर बोलचाल की भाषा से इसकी कोई घनिष्ठता न रही। वह साहित्यिक भाषा के निर्माण में सहायक होकर उससे अलग रही और अपना विकास अपने ढंग पर करती रही। यद्यपि आरंभ में दोनों में विभेद बहुत कम था, पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों दोनों में अंतर और विभेद की मात्रा बढ़ती गई।

पढ़े-लिखे या साहित्य-सेवी लोग अपना एक अलग समुदाय सा बना लेते हैं और अपनी भाषा को शुद्ध तथा पवित्र रखने का उद्योग करते रहते हैं। जन-समुदाय को ऐसी कोई चिंता नहीं होती। वे भाव-प्रदर्शन को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानकर अपना काम करते हैं और भाषा प्राकृतिक नियमों के अनुसार परिवर्तित या विकसित होती रहती है। जब 'शिष्ट' लोगों को जन-समुदाय को अपने साथ लेकर चलने की आवश्यकता पड़ती है अथवा जब वे उसकी सहायता या सहयोगिता के लिये उसके मुखापेक्षी होते हैं, तब उन्हें हारकर समझाने-बुझाने और अपने पक्ष में करने के लिये उनकी 'अशिष्ट' 'अपरिमार्जित' 'असंस्कृत' 'गँवारु' भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। उनके हाथों में पड़कर यह बोलचाल की भाषा क्रमशः साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लगती है अर्थात् उसमें साहित्य की रचना होने लगती है। इस प्रकार यह नवीन भाषा पुरानी भाषा का स्थान ग्रहण

करती जाती है; पर बोलचाल की भाषा अपने ढंग पर चली चलती है। इस क्रम से एक ओर वैदिक बोलचाल की भाषा से पाली, पाली से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का आविर्भाव हुआ। दूसरी ओर वैदिक भाषा के अनंतर संस्कृत, संस्कृत के अनंतर पाली, पाली के अनंतर प्राकृत, प्राकृत के अनंतर अपभ्रंश और तब आधुनिक भाषाएँ भारतीय साहित्य के राज-सिंहासन पर विराजने की अधिकारिणी हुई। यह क्रम सहस्रों वर्ष से चला आ रहा है और न जाने कब तक इसकी उद्धरणी होती रहेगी।

हमारे प्रदेश में आधुनिक भाषाओं में पूर्व में अवधी, मध्यदेश में व्रज-भाषा और पश्चिम में खड़ी बोली का प्रचार रहा। पहले तो तीनों ही बोलचाल की भाषाएँ थीं, पर क्रमशः अवधी और व्रज-भाषा में साहित्य की रचना होने लगी; खड़ी बोली प्रायः बोलचाल के काम में आती रही। अब उसी बोली का साहित्य में प्रयोग होने लगा है और अवधी तथा व्रज-भाषा का आधिपत्य उस क्षेत्र में क्रमशः कम होता जा रहा है। इस परिवर्तन, इस भाषा-संबंधी क्रांति का आरंभ डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ। राजनैतिक क्षेत्र में लोग शांतिमय क्रांति का आदेश उपस्थित करते हैं, पर इतिहास में उसके उदाहरण नहीं मिलते। हमारे देश के साहित्यिक क्षेत्र में ऐसी शांतिमय क्रांति का प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान है और यह एक बेर नहीं, कई बेर हो चुका है। जब-जब साहित्यिक क्षेत्र में कोई भाषा अपनी उन्नति की सीमा को पहुँच गई और उसका जन-

साधारण से संपर्क नाम-मात्र का रह गया, तब-तब उसका स्थान बोलचाल की भाषा ने क्रमशः लेना आरंभ कर दिया और समय पाकर वह उस अधिकार पर पूर्णतया आरूढ़ हो गई। पर जिन्होंने उसे यह राज्याधिकार दिलाया, उसको भूल जाने के कारण उसको उस पद से वंचित होना पड़ा। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है, अभी तक चल रहा है और भविष्य में इसके चलते रहने की पूर्ण संभावना है।

अस्तु, आधुनिक हिंदी-गद्य को साहित्यिक रूप देने अर्थात् गद्य-साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग पूर्णरूप से आरंभ करने का श्रेय सदासुख राय, सदल मिश्र, लल्लूजी लाल और सैयद इंशाउल्ला खाँ को प्राप्त है; यद्यपि संवत् १६६८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषायोग वशिष्ठ' नाम का ग्रंथ सीधे-सादे पर अच्छे हिंदी-गद्य में लिखा, परंतु आधुनिक हिंदी-गद्य का वास्तविक विकास पीछे लिखे चार व्यक्तियों से होता है। सदा-सुखराय की मृत्यु १८८१ वि० में हुई। लल्लूजी लाल ने संवत् १८८१ में पेंशन ली और सदल मिश्र संवत् १८८८ के कुछ पहले अपने घर लौट आए थे और इंशाउल्ला खाँ की मृत्यु संवत् १८८३ में हुई। जहाँ तक इन चारों महानुभावों के संबंध के संवतों का पता लगा है, उसके आधार पर यह अनु-मान किया जा सकता है कि वे प्रायः समकालीन थे और उनकी रचनाओं के काल में विशेष अंतर नहीं है। सदासुख-राय ने अपने भक्तिभाव से प्रेरित होकर भागवत का अनुवाद खड़ी बोली में किया। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र ने तो

कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज के डाक्टर जान गिलक्रिस्ट की तत्वावधानता में ईस्ट इंडिया कंपनी के युरोपियन नौकरों को हिंदी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये गद्य-ग्रंथों की रचना आरंभ की, पर इंशाउल्ला खाँ को दूसरों के आदेश से अथवा दूसरों की आवश्यकता या अभाव को पूरा करने के लिये यह काम नहीं करना पड़ा। वे अपने ग्रंथ लिखने का कारण इस प्रकार बताते हैं—"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदी को छुट और किसी बोली को पुट न मिले; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे पुराने-धुराने, डाँग-बूढ़े घाघ यह खटराग लाए। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक-भौंहें चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने—यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे, यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंढी साँस का टहोका खाकर, झुँझला-कर कहा, मैं कुछ ऐसा बढ़-बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ-सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ और बे-सिर बे-ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें बनाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता इस बखेड़े को टालता। इस कहानी को कहने वाला

आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़के अपने आता हूँ मैं।
करतब जो कुछ हैं कर दिखाता हूँ मैं॥
उस चाहने वाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥

अब कान रखके, आँखें मिलाके, सम्मुख होके टुक इधर देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल के पँखड़ी जैसे होठों से किस-किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

लल्लूजी लाल प्रेम-सागर की भूमिका में लिखते हैं—"श्रीयुत गुनगाहक, गुनियन-सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र-अवदीच आगरे वाले ने जिसका (चतुर्भुज दास कृत भागवत दशम स्कंध के अनुवाद का) सार ले, यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम प्रेम-सागर धरा। पर श्रीयुत जान गिलक्रिस्त महाशय के जाने से बना अधबना, छपा अधछपा रह गया था। सो अब श्री महाराजेश्वर अति दयाल कृपाल यशस्वी तेजस्वी गिलबर्ट लार्ड मिंटो प्रतापवान् के राज में श्री श्री

गुनवान सुखदान कृपानिधान भगवान कपतान जान उलियम टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दयासागर परोपकारी डाक्टर उलियम हंटर नछत्री की सहायता से औ श्री निपट प्रवीन दयायुत लिपटन अवराहम लाकर रतोवंत के कहे से उसी कवि ने संवत् १८६६ में पूरा कर छपवाया, पाठशाला के विद्यार्थियों के पढ़ने को।"

इसी प्रकार पंडित सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के अनुवाद के आरंभ में लिखते हैं—"चित्र विचित्र सुन्दर-सुन्दर बड़ी-बड़ी अटारिन से इंद्रपुरी समान शोभायमान नगर कलिकत्ता महा प्रतापी वीर नृपति कंपनी महाराज के सदा फूल फूला रहे, कि जहाँ उत्तम-उत्तम लोग बसते हैं और देश-देश से एक से एक गुणीजन आय आय अपने अपने गुण को सुफल करि बहुत आनन्द में मगन होते हैं। नाम सुन सदल मिश्र पंडित भी वहाँ आन पहुँचा। वो बड़ी बड़ाई सुनि सब-विद्या-निधान ज्ञानवान महा प्रवान श्री महाराज जान गिलक्रिस्त साहब से मिला कि जो पाठशाला के आचार्य हैं। तिनकी आज्ञा पाय दो-एक ग्रंथ संस्कृत से भाषा वो भाषा से संस्कृत किए। और संवत १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चंद्रवती की कथा कही है, देव-वाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया।"

सदासुख राय ने स्वांतः सुखाय रचनाएँ कीं। उनकी रचनाएँ भक्ति-भाव से प्रेरित थीं। लल्लूजी लाल ने अपने स्वामी की आज्ञा के वशीभूत होकर तथा सदल मिश्र ने फोर्ट

विलियम के आचार्य जान गिलक्रिस्त के कहने पर तथा इंशा-उल्लाखाँ ने कुतूहलवश तथा अपनी विद्वत्ता और काव्य-कुशलता की उमंग में आकर अपने-अपने ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार हिंदी-गद्य में इन चार ग्रंथों की रचना हुई।

सदासुख राय का वृत्तांत उनके एक वंशज ने इस प्रकार लिखा है—

मुंशी सदासुख राय के पूर्वज और उनके पिता गाजीपुर नामक स्थान के रहने वाले थे। मुंशीजी के पिता का नाम मुंशी शीतलचंद और पितामह का नाम भाईराम था। वे बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में पाँच सदी मनसबदार थे। मुंशीजी के पिता के पूर्वज दिल्ली में ही रहते थे।

मुंशी सदा सुखराय का जन्म संवत् १८०२ में हुआ था। सरकारी नौकरी के सिलसिले में गाजीपुर से दिल्ली गए और वहाँ रहने लगे। शाही दरबार में उनको अच्छी प्रतिष्ठा थी। इसके बाद वे ईस्ट-इंडिया कंपनी की नौकरी के सिलसिले में चुनार आए। इन्हीं दिनों उन्होंने उर्दू और फारसी में बहुत-सी पुस्तकें लिखीं और काफी शायरी और हिंदी-रचनाएँ भी कीं। चुनार में वे कंपनी सरकार के तहसीलदार थे। यों तो उनको अपनी नौकरी के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में रहना पड़ा, किंतु, ज्यादातर वे चुनार में ही रहे। ६५ [illegible] की आयु में नौकरी छोड़कर चुनार से प्रयाग में आकर [illegible] रहने लगे। प्रयाग में रहकर वे अपने जीवन का शेष भाग ह[illegible] [illegible]भजन में व्यतीत करना चाहते थे। यहाँ उनकी ससुराल थ[illegible] [illegible]। ससु-

राल से मुंशीजी के रहने को एक मकान मिला था, जो बाद को उन्हें दे ही दिया गया। दिल्ली में मुंशीजी के पास बहुत-सा शाही सामान तथा विलासिता की वस्तुएँ और धन था, जो अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण के समय सबका सब लुट गया था। प्रयाग में उनके पास पिछले दिनों की कमाई का ही धन था। प्रयाग आकर वे एक साधु की भाँति अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

मुंशी सदासुख राय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकें—'मुंतखबुत्तवारीख' तथा 'सुखसागर'—सं० १८७५ तक समाप्त कर दी थीं। इसके बाद ये गीता का अनुवाद तथा अन्य पुस्तकें लिखते रहे। उन्होंने उर्दू और फारसी की शायरी के अतिरिक्त ब्रज-भाषा में कविताएँ और भजन भी बनाए हैं। ये भजन और कविताएँ अधिकतर ईश्वर-संबंधी या अध्यात्म विषयक हैं। उन्होंने कई पुस्तकें और कविताएँ लिखी हैं; किंतु वे सभी अब अप्राप्य हैं, न उनका पता ही मिल रहा है। उनके हाथ की लिखी एक 'नोट-बुक' प्राप्त है, जो पद्य में लिखी है।

मुंशीजी ने श्रीमद्भागवत के कुछ स्थलों को हिंदी का 'कड़खा' इत्यादि छंदों में लिखा है। ऐसी रचनाओं में उन्होंने उर्दू-शब्दों का प्रयोग भी किया है। गोवर्द्धन-धारण के समय बादलों की सेना का वर्णन वे इस भाँति करते हैं—

करके नज्म व नस्क फ़ौज का ठाठ-बाट से।
चल्ल बादल मायक़ा मैमना राद मैसराओं बी ख़राबल॥

इत्यादि— —सुखसागर"

किंतु सुखसागर का मंगलाचरण हिंदी के तत्सम शब्दों में ही लिखा गया है। जो इस प्रकार है:—

मंगलाचरण

हर नाम सबका सार है, हर नाम से उद्धार है।
हर नाम दुख में यार है, गोविंद भज गोविंद भज ॥
हर से बड़ा हर नाम है, हर नाम से आराम है।
हर नाम ही सों काम है, गोविंद भज, गोविंद भज ॥
हर नाम सुख का मूल है, आनंद का फल-फूल है।
दो-सिंधु का यह कूल है, गोविंद भज, गोविंद भज ॥
हर नाम रस जिसने पिया, वह कल्प-कल्पांतर जिया।
ब्राह्मण कि वह चांडाल हो, हर नाम में खुशहाल हो।
दौलत से मालामाल हो, गोविंद भज, गोविंद भज ॥

× × ×

बस, कुन 'निसार' ई गुफ़्तगू-दर फ़ारसी-गो वेह अज़ू।
बायद-न मूदन ज़िक्रे-ऊ, हर नाम गो, हर नाम गो ॥

मुंशी जी 'भाषा' के प्रेमी थे और उन्होंने जो भाषा लिखी है वह संस्कृत मिश्रित ऊँचे दर्जे की भाषा है और उसी भाषा में अपना 'सुखसागर' और 'गीता' लिखी है। उन्हें उस साधु-भाषा का हिंदू समाज से, उर्दू के प्रवेश के कारण, उठ जाने का भारी दुःख था। उन्होंने लिखा है:—

"रस्मो-रिवाज भाखा का दुनियाँ से उठ गया ॥"

सारांश यह कि मुंशी जी ने हिन्दुओं की शिष्ट बोल-चाल की भाषा में ही अपने भाव व्यक्त किए हैं। उर्दू से भाषा नहीं

लों। इनकी क्रियाओं और शब्दों के स्वरूप स्पष्ट बताते हैं कि उर्दू से सर्वथा पृथक् खड़ी बोली में ही उन्होंने अपनी पुस्तकें लिखी हैं। उन्हीं की भाषा का बाइबिल के अनुवादकों ने अनुसरण किया है। स्वयं केरे साहब ने बाइबिल का हिंदी-अनुवाद 'नये धर्म-नियम' के नाम से सं० १८६६ में कराया, फिर समग्र ईसाई-पुस्तकों का भी भाषानुवाद सं० १८८५ में समाप्त हुआ और इन सबमें भाषा मुंशी सदासुख राय की ही रक्खी गई। इनमें उर्दूपन को स्थान नहीं दिया गया। मुंशी जी की भाषा इस तरह हिंदी-गद्य के विकास काल में आदर्श रूप से स्वीकार की गई।

मुंशी जी गद्य के एक प्रचंड लेखक ही नहीं, एक ऊँचे दरजे के कवि भी थे। परंतु उनकी हिंदी की रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। हाँ, उर्दू की थोड़ी रचनाएँ मिलती हैं। एक रचना में उन्होंने अपने कुल की उन्नति की आकांक्षा से 'गौड़-वंश'' की हजो की है। इस हजो में वे लिखते हैं:—

'किस्म जामिद में हुआ शमितिला अफ़ज़ल तर,
जिनमें नामी में वो शै जिससे बनै कंद व शकर।
जिनमें हैवाँ में फ़रस ज़्यादा अज़ाँ नौ ये बशर,
इसमें वह शख़्स कि जो अहले-हुनर साहबे ज़र।
"गौड़" किस्मं इलाही! कि न इधर, न उधर॥
संग होते तो कहीं होके सनम पुजवाते,
काठ होते तो इमारत में कहीं लग जाते।
होते हैवाँ तो कहीं घास, खली, खाते,

होते इनसाँ तो लियाकत से कहीं जस पाते ॥
यह न अहजार, न अशजार, न हैवाँ, न बशर॥" इत्यादि।

मुंशी जी चित्रकार भी थे। सूर के कुछ पदों के रागों को उन्होंने सचित्र किया है।

अन्यत्र कथित प्राप्त 'नोट बुक' के अंतिम पृष्ठों में मुंशीजी की मृत्यु के संबंध में कुछ दोहे हैं जो संभवतः उनके किसी निकटतम संबंधी के लिखे जान पड़ते हैं और जिनके अक्षरों की लिपि में भी पर्याप्त अंतर है। वे दोहे ये हैं:—

"अस्टादश शत वर्ख पर, बीते अस्सी एक।
अगहन मास के दशमी, सुकुल पच्छ ··नेक॥"

(इस दोहे में का रिक्त स्थान दीमकों ने खा डाला है, अतः नहीं पढ़ा जा सकता।)

"बुध वासर रवि उदय में, सुभ नछत्र तिथि पाय।
परम हुलास आनंद सों, इष्ट देव सिर नाय॥
तीरथ-राज प्रयाग में, आज्ञा ईश्वर पाय।
पग धारे बैकुंठ को, गौड़ सदासुख राय॥"

मुंशी सदासुख राय के गद्य का उदाहरण इस प्रकार है:-

"इससे जाना गया कि संस्कार भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु

पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए। व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धनपुण्य हकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

लल्लूजी लाल का वृत्तांत काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित प्रेमसागर की भूमिका में इस प्रकार दिया है:—

"इनका नाम लल्लूलाल, लालचंद, या लल्लूजी था और कविता में उपनाम लाल कवि था। ये आगरा-निवासी गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे और उस नगर के बलका की बस्ती गोकुलपुरा में रहते थे। इनके पिता का नाम चैनसुखजी था जो बड़ी दरिद्रावस्था में थे और पुरोहिताई तथा आकाशवृत्ति से किसी प्रकार अपना कार्य चलाते थे। इनके चार पुत्र थे जिनके नाम क्रमशः लल्लूजी, दयालजी, मोतीरामजी और चुन्नीलालजी थे। सबसे बड़े ये लल्लूजी लाल थे जिनके जन्म का समय निश्चित रूप से अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है; पर संभवतः इनका जन्म सं० १८२० वि० के लगभग हुआ होगा। इन्होंने घर ही पर कुछ संस्कृत, फारसी और ब्रज-भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जब सं० १८४० वि० में इनके पिता स्वर्ग सिधारे, तब अधिक कष्ट होने के कारण ये सं० १८४३ वि० में जीविका की खोज में मुर्शिदाबाद आए। यहाँ कृपा-

सखी के शिष्य गोस्वामी गोपालदासजी के परिचय और सत्संग से इनकी पहुँच यहाँ के नवाव मुवारकउद्दौला के दरवार में हो गई। नवाव ने इन पर प्रसन्न होकर इनकी जीविका बाँध दी जिससे ये आराम से वहाँ सात वर्ष तक रहे। सं० १८५० वि० में गोस्वामी गोपालदासजी की मृत्यु हो जाने और उनके भाई गोस्वामी रामरंग कौशल्यादास जी के वर्दवान चले जाने से इनका चित्त उस स्थान से ऐसा उचाट हुआ कि नवाव के आग्रह करने पर भी उनसे विदा हो ये कलकत्ते चले गए।

नाटौर की प्रसिद्ध रानी भवानी के दत्तक पुत्र महाराज राम-कृष्ण से कलकत्ते में इनका परिचय हो गया और ये कुछ दिन उन्हीं के आश्रय में वहाँ रहे। जव इनके राज्य का नये रूप से प्रवंध हो गया और उन्हें उनका राज्य भी मिल गया, तव ये भी उनके साथ नाटौर गए। कई वर्ष के अनंतर जव उनके राज्य में उपद्रव मचा और वे कैद किये जाकर मुर्शिदावाद लाए गए, तव ये भी उनसे विदा होकर सं० १८५३ में कलकत्ते लौट आए जहाँ ये कुछ दिन चितपुर रोड पर रहे। वहाँ के कुछ वावू लोगों ने प्रकट में तो इनका वहुत कुछ आदर-सत्कार किया, पर कुछ सहायता न की, क्योंकि, वे लिखते हैं—"उन्हीं के थोथे शिष्टाचार में जो कुछ वहाँ से लाया था, सो वैठकर खाया।" कई वर्ष इन्हें जीविका का कष्ट वना रहा। तव अंत में घवराकर जीविका की खोज में ये जगन्नाथपुरी गए। जव जगदीश के दर्शन करने गये थे,

तब स्वरचित निर्वेदाष्टक सुनाकर उनकी स्तुति की थी, जिसका प्रथम दोहा यों है:—

विश्वंभर बनि फिरत हौ, भले बने महराज।
हमरी ओर निहारिकै, लखौ आपुना काज॥

संयोग से नागपुर के राजा मनियाँ बाबू भी उसी समय जगदीश के दर्शन को आए हुए थे और वे खड़े-खड़े इनकी इस दैन्य स्तुति को, जिसे ये बड़ी दीनता के साथ पढ़ रहे थे, सुनते रहे। इससे उन्हें इन पर बड़ी दया आई और इनसे परिचय करके उन्होंने इन्हें अपने साथ नागपुर लिवा जाने के लिये बहुत आग्रह दिखलाया। इनका विचार भी वहाँ जाने का पक्का हो गया था पर अभी तक इनके अदृष्ट ने इनका साथ नहीं छोड़ा था, जिससे ये उनके साथ नहीं जा सके और कलकत्ते लौट आए। विदा होते समय मनियाँ बाबू ने सौ रुपये भेंट देकर इनका सत्कार किया था।

इन्हीं दिनों साहबों के पठन-पाठन के लिये जब कलकत्ते में एक पाठशाला खुली, तब इन्होंने गोपीमोहन ठाकुर से जाकर प्रार्थना की। उन्होंने अपने भाई हरिमोहन ठाकुर के साथ इन्हें भेजकर पादरी ब्रुरन साहब से इनकी भेंट करा दी। उन्होंने आशा-भरोसा तो बहुत दिया, पर एक महीना व्यतीत हो जाने पर भी जब उनके किए कुछ नहीं हुआ, तब दीवान काशीनाथ खत्री के छोटे पुत्र श्यामाचरण के द्वारा डाक्टर रसेल से एक अनुरोधपत्र प्राप्त करके इन्होंने डॉक्टर गिलक्रिस्ट से भेंट की, जो उन दिनों फोर्ट विलियम कालेज

के प्रिंसिपल थे। इन्हीं गिलक्रिस्ट साहब का उर्दू-सत्संग लल्लूजी लाल की विख्याति का मूल कारण हुआ।

साहब ने इन्हें ब्रज-भाषा की किसी कहानी को हिंदी-गद्य में लिखने की आज्ञा दी और अर्थ-साहाय्य के साथ-साथ इनके प्रार्थनानुसार दो मुसलमान लेखकों को, जिनके नाम मजहरअली खां विला और कासिम अली जवाँ था, सहायतार्थ नियुक्त कर दिया। तब इन्होंने एक वर्ष (सं० १८५६ वि०) में परिश्रम करके चार पुस्तकों का ब्रज-भाषा से रेखते की बोली में अनुवाद किया। इन पुस्तकों के नाम सिंहासन-बत्तीसी, बैताल-पचीसी, शकुंतला नाटक और माधोनल हैं।

आगरे के तैराक बहुत प्रसिद्ध होते हैं। लल्लूजी भी वहाँ के निवासी होने के कारण तैरना अच्छा जानते थे। दैवात् एक दिन इन्होंने तट पर टहलते समय एक अँगरेज को गंगाजी में डूबते देखा। तब इन्होंने निडर होकर झटपट कपड़े उतार डाले और गंगाजी में कूद दो ही गोते में उसे निकाल लिया। वह अँगरेज ईस्ट इण्डिया कंपनी का कोई पदाधिकारी था। उसने अपने प्राण-रक्षक की पूरी सहायता की और इन्हें कुछ धन देकर छापाखाना खुलवा दिया। उसी के अनुरोध से फोर्ट विलियम कॉलेज में इनकी वि० सं० १८५७ में पचास रुपये मासिक की आजीविका लग गई। बस इसके अनंतर इनकी प्रतिष्ठा और ख्याति बराबर बढ़ती चली गई। इन्होंने अपने प्रेस में जिसका नाम संस्कृत प्रेस रखा था, अपनी

पुस्तकें छपवा कर बेचना आरंभ कर दिया। कंपनी ने भी इस प्रेस के लिये बहुत कुछ सहायता दी, जिससे इसमें छपाई का अच्छा प्रबंध हो गया। यह यंत्रालय पहले पहल डाँगा में खोला गया था। इनके प्रेस की पुस्तकों पर सर्वसाधारण की इतनी श्रद्धा हो गई थी कि इनकी प्रकाशित रामायण ३०), ४०), ५०) को और प्रेमसागर १५), २०), ३०) को बिक जाते थे। इनके छापेखाने के छपे हुए ग्रंथों को एक शताब्दी से अधिक हो गया, पर ये ऐसे उत्तम, मोटे और सफेद बाँसां के कागज पर छपे थे कि अब तक नये और दृढ़ बने हुए हैं।

लल्लूजी २४ वर्ष तक फोर्ट विलियम कॉलेज में अध्यापक रहे और वि० सं० १८८१ में पेंशन लेकर स्वदेश लौटे। ये अपना छापाखाना भी आते समय नाव पर लादकर साथ ही आगरे लाए और वहाँ उसे खोला। आगरे में इस छापेखाने को जमाकर ये कलकत्ते लौट गए और वहीं इनकी मृत्यु हुई। इनकी कब और कैसे मृत्यु हुई, इसका इनके जन्म के समय के समान निश्चित समय ज्ञात नहीं हुआ; परन्तु पेंशन लेते समय इनकी अवस्था लगभग ६० वर्ष की हो गई थी।

यद्यपि इनके भाइयों को संतान थी; पर ये निस्संतान ही रहे। इनकी पत्नी का इन पर असाधारण प्रेम था और वे इनके अन्त के समय बराबर इनके साथ रहीं। ये वैष्णव तो अवश्य ही थे, पर किस संप्रदाय के थे, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। फिर भी ये राधावल्लभीय ज्ञात होते हैं।

इतना तो स्पष्ट ही विदित है कि ये कोई उत्कट विद्वान् नहीं थे और न किसी विद्या के आचार्य होने का गर्व ही कर सकते थे। संस्कृत का बहुत कम ज्ञान रखते थे; उर्दू और अँगरेजी भी कुछ-कुछ जानते थे। पर ब्रज-भाषा अच्छी जानते थे। कवि भी ये कोई उच्च कोटि के नहीं थे। परंतु जिस समय ये अपनी लेखनी चला रहे थे, उस समय वे वास्तव में ठेठ हिंदी का स्वरूप स्थिर कर रहे थे। हिंदी-गद्य के कारण ही वे प्रसिद्ध और विख्यात हुए हैं। कुछ लोगों का यह कथन है कि यदि ये आजकल होते, तो कदापि इतने यश के भागी न होते। पर यह तो न्यूटन आदि जगत्प्रसिद्ध विद्वानों के लिये भी कहा जा सकता है।

इन्होंने नीचे लिखे ग्रंथों की रचना की थी :—

१. सिंहासन बत्तीसी—(खड़ी बोली)
२. बैतालपचीसी—(उर्दू भाषा)
३. शंकुतला नाटक—(खड़ी बोली)
४. माधोनल —(ब्रज-भाषा)
५. माधव विलास—(गद्य-पद्य दोनों; ब्रज भाषा में)
६. सभा विलास—(पद्यों का संग्रह)
७. प्रेमसागर—(खड़ी बोली)
८. राजनीति—(ब्रज-भाषा)
९. भाषा-कायदा—(खड़ी बोली का व्याकरण)
१०. लतायफ हिंदी—(उर्दू, हिंदी और ब्रज-भाषा की कहानियों का संग्रह)

११. लाल चंद्रिका—(गद्य टीका)

पंडित सदल मिश्र आरे के रहनेवाले शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजों में शुकदेव मिश्र पहले पहल आरा जिले के भ्रवटीहा ग्राम में आकर बसे थे। ये श्रीकृष्णजी के अनन्य भक्त थे और एकांत जीवन निर्वाह करते थे: श्राद्ध, ब्राह्मण भोजन आदि में सम्मिलित नहीं होते थे। इस कारण उस गाँव के अन्य ब्राह्मणों से इनकी अनबन हो गई और अंत में ये उस गाँव को छोड़ने के लिये बाध्य हुए। वहाँ से ये भदवर ग्राम में जाकर बसे। वहाँ के बाबू को पहले इन पर संदेह हुआ: पर जांच करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि ये एक भगवत भक्त सात्त्विक वृत्ति के ब्राह्मण हैं, तब उन्होंने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। उन्होंने मिश्रजी को कई गांव देने चाहे, पर संतोषी शुकदेव मिश्र ने केवल हुसनपुरा नामक गाँव लेना स्वीकार किया। बहुत दिनों तक ये और इनके वंशधर इसी ग्राम में रहे: पर कुँअरसिंह के समय में ये लोग आरा नगर के मिश्र टोले में आकर बस गए और वहीं अब तक इनके वंशधर रहते हैं।

पंडित शुकदेव मिश्र के वंश में पंडित लक्ष्मण मिश्र हुए। इनके तीन पुत्र थे—कृष्णमणि मिश्र, धैर्यमणि मिश्र और नंदमणि मिश्र। इन तीनों भाइयों का वंश चला और अब तक उनके उत्तराधिकारी वर्तमान हैं। नंदमणि मिश्र के तीन पुत्र हुए—मदन मिश्र, सदल मिश्र और सीताराम मिश्र। यही सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के रचयिता हैं। इस वंश के अनेक

व्यक्ति प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। पंडित सदल मिश्र भी संस्कृत के अच्छे पंडित थे। इनके वंशजों में यह प्रसिद्धि है कि अपनी विद्वत्ता के कारण ये पटने बुलाए गए थे और वहाँ से फोर्ट विलियम कालेज में काम करने के लिए भेजे गए थे। नासिकेतोपाख्यान की प्रस्तावना से यह स्पष्ट नहीं होता कि सदल मिश्र स्वयं नौकरी की खोज में कलकत्ते गये अथवा पटने बुलाए जाकर वहाँ से कलकत्ते भेजे गए। जो कुछ हो. यह तो स्पष्ट ही है कि कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज में ये नौकर हो गए।

बाबू शिवनंदन सहाय लिखते हैं—"संवत १९०४ का इन के नाम का एक बयनामा हमारे देखने में आया है, जो इस समय इनके पौत्र पंडित रघुनंदन मिश्र जी के पास है। इसके पहले के कागजों में भी इनका नाम है। १९०५ संवत् के एक कागज में इनका नाम न होकर केवल इनके वंशधरों का नाम देखा जाता है।" इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संवत १९०४ और १९०५ के बीच में पंडित सदल मिश्र की मृत्यु हुई। इनके वंशधरों का कहना है कि पंडित सदल मिश्र ने ८० वर्ष की आयु पाई थी। इस हिसाब से इनका जन्म संवत् १८२४-२५ के लगभग होना चाहिए। इनके वंशधरों का यह भी कहना है कि २४-२५ वर्ष की अवस्था में ये कलकत्ते गए थे, जो संवत् १८५० के लगभग पड़ती है। संवत १८६० में इन्होंने नासिकेतोपाख्यान का अनुवाद किया था। स्वयं यह भी लिखते हैं कि मैंने "दो-एक संस्कृत ग्रंथों से भाषा और

११. लाल चंद्रिका—(गद्य टीका)

पंडित सदल मिश्र आरे के रहनेवाले शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजों में शुकदेव मिश्र पहले पहल आरा जिले के भ्रवटीहा ग्राम में आकर बसे थे। ये श्रीकृष्णजी के अनन्य भक्त थे और एकांत जीवन निर्वाह करते थे: श्राद्ध, ब्राह्मण भोजन आदि में सम्मिलित नहीं होते थे। इस कारण उस गाँव के अन्य ब्राह्मणों से इनकी अनबन हो गई और अंत में ये उस गाँव को छोड़ने के लिये बाध्य हुए। वहाँ से ये भदवर ग्राम में जाकर बसे। वहाँ के बाबू को पहले इन पर संदेह हुआ: पर जांच करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि ये एक भगवत भक्त सात्त्विक वृत्ति के ब्राह्मण हैं, तब उन्होंने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। उन्होंने मिश्रजी को कई गांव देने चाहे, पर संतोषी शुकदेव मिश्र ने केवल हुसनपुरा नामक गाँव लेना स्वीकार किया। बहुत दिनों तक ये और इनके वंशधर इसी ग्राम में रहे: पर कुँअरसिंह के समय में ये लोग आरा नगर के मिश्र टोले में आकर बस गए और वहीं अब तक इनके वंशधर रहते हैं।

पंडित शुकदेव मिश्र के वंश में पंडित लक्ष्मण मिश्र हुए। इनके तीन पुत्र थे—कृष्णमणि मिश्र, चैनमणि मिश्र और नंदमणि मिश्र। इन तीनों भाइयों का वंश चला और अब तक उनके उत्तराधिकारी वर्तमान हैं। नंदमणि मिश्र के तीन पुत्र हुए—बहल मिश्र, सदल मिश्र और सीताराम मिश्र। यही सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के रचयिता हैं। इस वंश के अनेक

व्यक्ति प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। पंडित सदल मिश्र भी संस्कृत के अच्छे पंडित थे। इनके वंशजों में यह प्रसिद्धि है कि अपनी विद्वत्ता के कारण ये पटने बुलाए गए थे और वहाँ से फोर्ट विलियम कालेज में काम करने के लिए भेजे गए थे। नासिकेतोपाख्यान की प्रस्तावना से यह स्पष्ट नहीं होता कि सदल मिश्र स्वयं नौकरी की खोज में कलकत्ते गये अथवा पटने बुलाए जाकर वहाँ से कलकत्ते भेजे गए। जो कुछ हो, यह तो स्पष्ट ही है कि कलकत्ते के फोर्ट विलियम कॉलेज में ये नौकर हो गए।

बाबू शिवनंदन सहाय लिखते हैं—"संवत १६०४ का इन के नाम का एक बयनामा हमारे देखने में आया है, जो इस समय इनके पौत्र पंडित रघुनंदन मिश्र जी के पास है। इसके पहले के कागजों में भी इनका नाम है। १६०५ संवत् के एक कागज में इनका नाम न होकर केवल इनके वंशधरों का नाम देखा जाता है।" इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संवत १६०४ और १६०५ के बीच में पंडित सदल मिश्र की मृत्यु हुई। इनके वंशधरों का कहना है कि पंडित सदल मिश्र ने ८० वर्ष की आयु पाई थी। इस हिसाब से इनका जन्म संवत १८२४-२५ के लगभग होना चाहिए। इनके वंशधरों का यह भी कहना है कि २४-२५ वर्ष की अवस्था में ये कलकत्ते गए थे, जो संवत् १८५० के लगभग पड़ती है। संवत १८६० में इन्होंने नासिकेतोपाख्यान का अनुवाद किया था। स्वयं यह भी लिखते हैं कि मैंने "दो-एक संस्कृत ग्रंथों से भाषा और

भाषा से संस्कृत किए। पर वे सब ग्रंथ अब नहीं मिलते। सं० १८८८ में इन्होंने ११०००) पर सिंगही गाँव, बघगुलफा और हसनपुरा का ठेका लिया था। ऐसा जान पड़ता है कि कलकत्ते में ३०-३५ वर्ष सेवा कर और बहुत-सा धन कमाकर ये अपने घर लौट आये थे। सं० १८६७ में इन्होंने तुलसीदास के रामचरितमानस का एक संस्करण संशोधित करके छपवाया था। उस संस्करण की एक प्रति काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। सं० १८८३ में फोर्ट विलियम कालेज टूट गया था, अतएव उसके पूर्व ही उनका घर लौट आना संभव जान पड़ता है। अबतक इनके एक ही ग्रंथ का पता लगा है।"

सन् १९०१ में कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में रक्षित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की जाँच करते हुए मुझे इनकी अनुवादित चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान की एक प्रति प्राप्त हुई थी। उस प्रति के आधार पर उसे संपादित कर मैंने 'नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला' में प्रकाशित करवाया था।

लाला सदासुख राय और पंडित सदल मिश्र की भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है और उसमें वह शिथिलता या अस्थिरता नहीं है, जो लल्लूजी लाल के प्रेमसागर में देख पड़ती है।

सैयद इंशाअल्ला ख़ाँ के पूर्वज समरकंद के एक प्रतिष्ठित पुरुष थे। ये लोग पहले कश्मीर में आकर रहे और फिर वहाँ से दिल्ली आए। यहाँ शाही दरबार में इन लोगों का बड़ा मान हुआ। इंशाअल्लाह ख़ाँ के पिता

माशाउल्लाह खाँ अच्छे कवि और हकीम थे। यथासमय वे भी अपने पूर्व पुरुषों की भाँति तत्कालीन बादशाह के दरबार में हकीम नियत हुए। पर उस समय चगताई वंश की शक्ति क्षीण हो चुकी थी: अतएव माशाउल्लाह खाँ ने दिल्ली छोड़कर मुर्शिदाबाद जा बसने की ठानी। वहाँ के नवाब के यहाँ उनका अच्छा आदर हुआ। नवाब सिराजुद्दौला का नाम इतिहास-प्रसिद्ध है। वही उस समय बंगाल के अधिकारी थे। उनके दरबार में विद्वानों और गुणीजनों का अच्छा आदर होता था। माशाउल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद में बस गए और आनंद से अपने दिन बिताने लगे। वहीं उनके पुत्र इंशाउल्लाह खाँ का जन्म हुआ। बालक इंशाउल्लाह खाँ का स्वभाव चंचल और बुद्धि तीव्र थी। पिता से शिक्षा पाकर ये छोटी अवस्था में ही कविता करने लग गए थे। जब बंगाल में राजनीतिक अवस्था चिंताजनक हुई, तब सैयद इंशाउल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद से दिल्ली चले आए। उस समय दिल्ली के राजसिंहासन पर शाह आलम विराजते थे। यद्यपि वे धन और शक्ति हीन थे, नाम मात्र के बादशाह रह गए थे, तथापि उनको काव्य से प्रेम था। वे स्वयं कविता करते थे और गुणी कवियों का आदर भी करते थे। उन्होंने इंशाउल्लाह खाँ को अपने दरबार में रख लिया। इंशाउल्लाह खाँ बड़े विनोदप्रिय थे। वे केवल कविता ही नहीं करते थे, बल्कि समय समय पर विनोदमय कहानियाँ भी रचकर दरबार में सुनाया करते थे, जिससे उनकी बहुत कुछ पूछ रहती; और

मान-मर्यादा की भी कमी न थी। पर यह सब मान-मर्यादा खोखली थी। दिल्लीपति शाह आलम धनहीन होने के कारण इनकी यथेष्ट आर्थिक सहायता नहीं कर सकते थे; इसलिये इन्हें प्रायः अर्थ-कष्ट बना रहता था। निदान इन्हें अपने कष्टों की निवृत्ति के लिये किसी दूसरे दरबार का आश्रय लेने की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। उस समय अवध के नवाब आसफुद्दौला के दान और उदारता की चर्चा चारों ओर फैल रही थी। 'जिसको न दे मौला, उसे दे आसफुद्दौला' तक लोग प्रायः कहा करते थे। सैयद साहब ने भी इसी दरबार का आश्रय लेने का निश्चय किया। ये लखनऊ आए और नवाब साहब की सेवा में उपस्थित हुए। क्रमशः इनका मान बढ़ने लगा। कुछ समय के अनन्तर एक दिन बातों बातों हँसी हँसी में इनमें और नवाब साहब में कुछ मनमुटाव हो गया। तब से ये दरबार छोड़कर एकान्तवास करने लगे। इसी एकान्तवास में [illegible] संवत् १८७३ में [illegible]

बीच में लिखी गई होगी। इस कहानी के लिखने का उद्देश्य तो यह था कि एक ऐसी रचना की जाय जिसमें 'हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले' और 'हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।' इस उद्देश्य से प्रेरित हो सैयद इंशाअल्लाह खाँ ने इस कहानी की रचना की और उसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पहले तो कहानी मौलिक है, किसी की छाया नहीं है और न किसी के आधार पर लिखी गई है। कहने का ढंग भी चित्ताकर्षक और मनोहर है। जहाँ तहाँ उसमें कविता भी दी गई है, पर वह उच्च कोटि की नहीं। सबसे बढ़कर बात जो इस कहानी में है, उसकी भाषा है। एक तो अबी, फारसी और उर्दू के विद्वान् होने पर भी आपने ठेठ हिंदी में रचना की जो आपकी कुशलता प्रमाणित करती है। दूसरे इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तब तक हिंदी गद्य का कोई स्वरूप पूर्णतया निश्चित नहीं हुआ था। सदासुखराय, लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और इंशाअल्लाह खाँ ये इसके प्रथम आचार्य, इसके स्वरूप की नींव रखनेवाले तथा हिंदी-साहित्य के लिये एक नये पंथ के प्रदर्शक हुए हैं। चारो महानुभाव समकालीन थे और चारों की रचनाएँ भी लगभग एक ही समय में हुईं: पर सदासुखराय के लिये भागवत, लल्लूजी लाल के लिये चतुर्भुजदास का भागवत और सदल मिश्र के लिये संस्कृत का नासिकेतोपाख्यान उपस्थित था! इंशाअल्लाह खाँ के लिए ऐसा कोई आधार न था। लल्लूजी लाल की भाषा अपनी अस्थिरता का

मान-मर्यादा की भी कमी न थी। पर यह सब मान-मर्यादा खोखली थी। दिल्लीपति शाह आलम धनहीन होने के कारण इनकी यथेष्ट आर्थिक सहायता नहीं कर सकते थे; इसलिये इन्हें प्रायः अर्थ-कष्ट बना रहता था। निदान इन्हें अपने कष्टों की निवृत्ति के लिये किसी दूसरे दरबार का आश्रय लेने की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। उस समय अवध के नवाब आसफुद्दौला के दान और उदारता की चर्चा चारों ओर फैल रही थी। 'जिसको न दे मौला, उसे दे आसफुद्दौला' तक लोग प्रायः कहा करते थे। सैयद साहब ने भी इसी दरबार का आश्रय लेने का निश्चय किया। ये लखनऊ आए और नवाब साहब की सेवा में उपस्थित हुए। क्रमशः इनका मान बढ़ने लगा। कुछ समय के अनंतर एक दिन यों ही हँसी हँसी में इनमें और नवाब साहब में कुछ मनमुटाव हो गया। तब से ये दरबार छोड़कर एकांतवास करने लगे। सात वर्ष एकांतवास में बिता संवत् १८७३ में ये स्वर्ग को सिधारे।

सैयद इंशाउल्लाह खाँ फारसी और अरबी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। आपने उर्दू में भी कविता की है। प्रांतीय बोलियों से भी आप भली भाँति परिचित थे और कभी-कभी उसका प्रयोग कर लेते थे; जैसे "झाड़ू मियाँ को मुँड़ पै पटकिस घुमाय के।" जिस समय सैयद साहब लखनऊ में थे, उस समय आपने रानी केतकी की कहानी लिखी। ऐसा अनुमान होता है कि यह कहानी १८५६ और १८६६ के

बीच में लिखी गई होगी। इस कहानी के लिखने का उद्देश्य तो यह था कि एक ऐसी रचना की जाय जिसमें 'हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले' और 'हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।' इस उद्देश्य से प्रेरित हो सैयद इंशाउल्लाह खाँ ने इस कहानी की रचना की और उसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पहले तो कहानी मौलिक है, किसी की छाया नहीं है और न किसी के आधार पर लिखी गई है। कहने का ढंग भी चित्ताकर्षक और मनोहर है। जहाँ तहाँ उसमें कविता भी दी गई है, पर वह उच्च कोटि की नहीं। सबसे बढ़कर बात जो इस कहानी में है, उसकी भाषा है। एक तो अरबी, फारसी और उर्दू के विद्वान् होने पर भी आपने ठेठ हिंदी में रचना की जो आपकी कुशलता प्रमाणित करती है। दूसरे इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तब तक हिंदी गद्य का कोई स्वरूप पूर्णतया निश्चित नहीं हुआ था। सदासुखराय, लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और इंशाउल्लाह खाँ ये इसके प्रथम आचार्य, इसके स्वरूप की नीव रखनेवाले तथा हिंदी-साहित्य के लिये एक नये पंथ के प्रदर्शक हुए हैं। चारों महानुभाव समकालीन थे और चारों की रचनाएँ भी लगभग एक ही समय में हुईं; पर सदासुखराय के लिये भागवत, लल्लूजी लाल के लिये चतुर्भुजदास का भागवत और सदल मिश्र के लिये संस्कृत का नासिकेतोपाख्यान उपस्थित था! इंशाउल्लाह खाँ के लिए ऐसा कोई आधार न था। लल्लूजी लाल की भाषा अपनी अस्थिरता का

प्रत्यक्ष प्रमाण दे रही है। न शब्दों का रूप ही निश्चित हुआ है और न व्याकरण-संबंधी नियमों का निर्धारण होकर प्रयोगों में स्थिरता ही आई है। तुकबंदी, अनुप्रास और कवितामय भाषा उनकी विशेषताएँ हैं। सदल मिश्र की भाषा लल्लूजी लाल की भाषा से अधिक पुष्ट और परिमार्जित है। स्वभावतः इसे लल्लूजी लाल की रचना के पीछे का होना चाहिए था। यदि लल्लूजी लाल के प्रेमसागर रचने का समय तथा सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान के निर्माण का समय न दिया होता और केवल दोनों की भाषा को ही मानकर उनके रचना-कालों का निश्चय करना होता, तो इस परीक्षा में लल्लू जी लाल पहले के और सदल मिश्र पीछे के माने जाते। पर वास्तव में दोनों समकालीन थे और दोनों के ग्रंथ भी लगभग एक ही समय में रचे गए। लल्लूजी लाल का प्रेमसागर संवत् १८६६ में पूरा होकर प्रकाशित हुआ, यद्यपि उसका बनना संवत् १८६० में आरंभ हो गया था। सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान संवत् १८६० में बना और सदासुख राय के ग्रंथ १८६८ में समाप्त हुए। सारांश यह कि चारों के ग्रंथ एक ही समय में बने। तीन की भाषा में प्रौढ़ता है, चौथे में अस्थिरता है। अवश्य ही इसका कोई कारण होना चाहिए। मेरी समझ में लल्लूजी लाल कोई बड़े विद्वान् नहीं थे उन्होंने चतुर्भुजदास का अनुकरण बहुत अधिक किया और वे उनकी भाषा के प्रवाह में बेतरह पड़ गए हैं। सदल मिश्र पंडित थे और उन्होंने अपनी शक्ति पर भरोसा करके

रचना की। इस दृष्टि से सदल मिश्र का आसन लल्लू जी लाल से ऊँचा है। सदासुख राय की भाषा परिपुष्ट है। वे सदल मिश्र के समकक्ष रखे जा सकते हैं।

इंशाअल्लाह खाँ का ढंग निराला है। यद्यपि उन्होंने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि हिंदवीपन भी न निकले, भाखा-पन भी न हो; पर वे कहाँ तक इसके पूरा करने में सफल हो सके हैं यह विचारणीय है। इसका निर्णय 'हिंदवीपन' और 'भाखापन' इन दो शब्दों के अर्थों पर निर्भर करता है। अवश्य ही ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। मेरा अनुमान है कि 'हिंदवीपन' से सैयद साहब का तात्पर्य यही था कि हिंदी के शब्दों का ही प्रयोग हो, फारसी और अरबी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों की मिलावट न हो। भाखापन से उनका अर्थ यही हो सकता है कि प्रांतीय बोलियाँ जैसे ब्रज-भाषा या अवधी आदि के व्याकरण का अनुकरण न किया जाय। खड़ी बोली में अभी तक गद्य की रचना प्रायः आरंभ नहीं हुई थी। संभव है कि लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की रचनाओं का सैयद इंशाअल्लाह खाँ को अभी तक पता भी न चला हो। अतएव सैयद साहब ने अपनी रचना के लिए जो प्रतिबंध स्वयं अपने ऊपर आरोपित कर लिए थे, उनका यही भाव था विदेशी शब्दों का प्रयोग न हो और वाक्यों की रचना वैसी न हो, जिसे हम लोग उर्दूपन कहते हैं।

यद्यपि उर्दू की जननी हिंदी की खड़ी बोली है, पर बहुत अंशों में अब यह दिनों-दिन स्वतंत्र होती जा रही है। उर्दू

की उत्पत्ति का मुख्य कारण राजनीतिक स्थिति है। इसका आकार-प्रकार तो आरंभ में सर्वथा खड़ी बोली का था; अर्थात् उर्दू का व्याकरण खड़ी बोली के अनुसार था और उसमें उसी के नियमों का अनुशासन माना जाता था, पर शब्दों के लिये कोई प्रतिबंध नहीं था। हिंदी, तुर्की, अरबी, फारसी सब भाषाओं के शब्द जो साधारणतः समझ में आ सकते थे, प्रचुरता से प्रयुक्त होते थे। राजाश्रय पाकर इस भाषा ने क्रमशः उन्नति की और मुसलमानों से पाली पोसी जाकर तथा उनके आदर और स्नेह की भाजन होकर इसने उनका अनुकरण करने में ही अपने जीवन का साफल्य समझा। क्रमशः फारसी प्रयोगों का इसमें प्रवेश होने लगा और इस उपाय से यह अपना व्यक्तित्व स्वतंत्र करने के उद्योग में लगी। इस समय हिंदी और उर्दू का विभेद चार बातों में स्पष्ट देख पड़ता है:—

(१) उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का तत्सम रूप में अधिकता से प्रयोग।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का बढ़ता हुआ प्रभाव: जैसे बहुवचन का रूप प्रायः फारसी के अनुसार होता है।

(३) संबंध, करण, अपादान और अधिकरण कारकों की विभक्तियाँ हिंदी के अनुसार न होकर फारसी के शब्दों या चिह्नों-द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं।

(४) वाक्य-विन्यास का ढंग उलटा हो रहा है। हिंदी

में पहले कर्त्ता तब कर्म और अंत में क्रिया होती है; पर उर्दू में इस क्रम में उलट-फेर होता है।

इस आधुनिक अवस्था को जब हम इंशाउल्लाह खाँ की रचना से मिलाते हैं, तब हमें यह विदित होता है कि इस पृथकता का सूत्रपात उसी समय हो गया था, यद्यपि उसने इतनी स्पष्टता नहीं धारण की थी। ऊपर की तीन बातें तो इंशाउल्लाह खाँ की कृति में नहीं मिलतीं; पर चौथी का आरंभ स्पष्ट देख पड़ता है। अतएव हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि इंशाउल्लाह खाँ की भाषा-शैली उर्दू ढंग की है। पर साथ ही हमें यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं है कि लल्लूजी लाल, सदासुखराय तथा सदल मिश्र की अपेक्षा इन की भाषा-शैली मनोहर है। हिंदी और उर्दू के गद्य में वैसा ही अंतर है, जैसा एक प्रौढ़ा स्त्री तथा एक रूप गर्विता नव-यौवना में होता है। हिंदी में वह चपलता, चंचलता, इतराना, इठलाना नहीं देख पड़ता जो उर्दू में देख पड़ता है। मुसल-मानी दरबार का आश्रय पा और अपने उपासकों की स्नेह भाजन हो उर्दू का ऐसा न करना आश्चर्य की बात होती। भाषा मनुष्य की अंतरात्मा का बाह्य रूप है। जैसे मन में भाव होते हैं, जैसी अंतरात्मा की स्थिति होती है, वैसी ही भाषा भी होती है। इसलिये यदि हम उर्दू-गद्य में उस चंच-लता के लक्षण पाते हैं जो मुसलमानी दरबार में आने-जाने वाली मुसलमान कामिनियों के लिये आवश्यक और अनिवार्य था, तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। सैयद

इंशाउल्लाह खाँ की भाषा-शैली उर्दू-गद्य के डेढ़ सौ वर्ष पुराने रूप का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। यद्यपि अधिकांश शब्द ठेठ हिंदी के हैं, पर उर्दू-मुहावरों का अधिकता से प्रयोग हुआ है; और तुकबंदियों ने तो बेतरह घेर रक्खा है। सारांश यह कि सैयद इंशाउल्लाह खाँ की पुस्तक हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के पृष्ठ-पोषकों के लिये समान आदर की वस्तु है और हिंदी गद्य की विकास-लड़ी की एक सुन्दर और चमकती हुई कड़ी है।

इंशाउल्लाह खाँ की भाषा में एक विशेषता है जिसे जान लेना आवश्यक है। आधुनिक हिंदी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, पर उनमें वचन-सूचक चिह्न नहीं रहते हैं। पुरानी उर्दू में यह बात नहीं थी। उसमें वचन-सूचक चिह्नों का प्रयोग होता था। इंशाउल्लाह खाँ ने भी ऐसे प्रयोग किए हैं, जैसे "आतियाँ जातियाँ जो सासें हैं। पासलियाँ वहलातियाँ हैं" इत्यादि। मेरी समझ में यह प्रभाव पंजाबी के कारण पड़ा है जिसमें अब तक ऐसे प्रयोग होते हैं।

मुंशी इंशाउल्लाह खाँ की कहानी को पहले-पहल राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके के तीसरे भाग में छापा था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसका कोई स्वतंत्र संस्करण तब तक प्रकाशित नहीं हुआ था। जब मैं लखनऊ में था, तब मुझे इसकी एक हस्त-लिखित प्रति तथा फारसी अक्षरों में छपी हुई एक प्रति प्राप्त हुई थी, जिसके आधार पर 'काशी-नागरी-प्रचारिणी

सभा' ने इसका एक संस्करण प्रकाशित किया ।

ऊपर जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी गद्य से प्रथम आचार्य इंशाअल्लाह खाँ, लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और सदासुख राय हैं। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र जो फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकर थे, सदासुख राय मुसलमानी दरबार में नौकर थे, पर वहाँ की रहन-सहन का प्रभाव उनके मानसिक और साहित्यिक जीवन पर नहीं पड़ा और इँशाउल्लाह खाँ लखनऊके नवाब आसफुद्दौला के दरबारियों में थे। इंशाउल्लाह खाँ को भाषा में उर्दूपन के आरंभिक रूप के दर्शन होते हैं, जब तक कि उर्दू हिंदी से अलग नहीं हुई थी और न अलग होने के उद्योग में ही लगी थी। लल्लूजी लाल की हिंदी पर चतुर्भुजदास की ब्रज-भाषा का पुट चढ़ा हुआ है और वह अपेक्षाकृत अस्थिर और अपरिमार्जित है। सदल मिश्र की हिंदी लल्लूजी लाल की हिंदी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। यह अवस्था सदासुख राय की भाषा की भी है। अतएव भाषा की दृष्टि से विवेचन करने पर आचार्यों में पहला स्थान इंशाउल्लाह खाँ, दूसरा सदासुख राय, तीसरा सदल मिश्र और चौथा लल्लूजी लाल को मिलना चाहिए।

---

(६) हमारी भाषा

कुछ लोगों का यह विचार है कि हमारे नित्य के व्यवहार तथा साहित्य की भाषा ऐसी होनी चाहिए जो न हिंदी हो और न उर्दू, फिर भी दोनों हो; अर्थात् उसमें हिंदी और उर्दू दोनों के प्रचलित शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग हो, तथा उसका व्याकरण हिंदी के अनुसार हो। इस नव निर्मित भाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया गया है। इसके पक्ष में यह कहा जाता है कि ऐसी भाषा के प्रचार से हिंदी और उर्दू का झगड़ा मिट जायगा। इस प्रश्न पर विचार करने के पहले हमें भारतवर्ष के भाषा-संबंधी इतिहास का थोड़ा सा पर्यालोचन कर लेना चाहिए।

अत्यंत प्राचीन काल से भारतवर्ष में दो भाषाएँ साथ साथ चलती रही हैं, एक जन-साधारण के बोल-चाल की भाषा और दूसरी साहित्य की भाषा। जब जब क्रमशः विकसित और परिमार्जित होकर बोल-चाल की भाषा ने साहित्य का रूप धारण किया, तब तब बोल-चाल की भाषा अपनी स्वतंत्र सत्ता की रक्षा करती हुई अपने मार्ग पर आगे बढ़ती गई। यद्यपि दोनों का विकास अपने अपने विशिष्ट ढंग पर होता रहा, पर दोनों में बहुत कुछ समानता रहने के कारण दोनों का परस्पर संबंध कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। इस प्रकार प्राचीन प्राकृत, वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पाली,

प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ठ तथा आधुनिक भाषाएँ क्रमशः आविर्भूत तथा विकसित होकर समय पर बोल-चाल तथा साहित्य के क्षेत्र में अपना साम्राज्य स्थापित करती रहीं। समय की परिस्थिति के अनुकूल कभी कभी किसी भाषा ने समस्त देश पर अपना साम्राज्य भी जमाया। आर्य तथा द्रविड़ लोगों के परस्पर संपर्क तथा विदेशियों के आक्रमण के कारण भी इस देश की भाषाओं ने उनके शब्दों को ग्रहण किया और भाव-विनिमय का मार्ग प्रशस्त रखा, पर कभी अपनी सत्ता नहीं खोई, आवश्यकतानुसार उन्होंने शब्दों को ग्रहण किया, पर उनका अनुशासन अपनी निजी भाषा के व्याकरण के अनुसार किया। इन ऐतिहासिक बातों को ध्यान में रख कर वर्तमान स्थिति पर विचार करके किसी तथ्य पर पहुँचने में सुगमता होगी।

भारतवर्ष एक बड़ा प्रायद्वीप होने के कारण कई खंडों या प्रांतों में विभक्त रहा और भिन्न-भिन्न प्रांतों की जलवायु की विभिन्नता तथा विदेशी प्रभावों की मात्रा के न्यूनाधिक होने के कारण, उनके तथा उनकी भाषा के विकास में अंतर पड़ा तथा क्रमशः कुछ विशिष्टताओं के कारण उनकी भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हुई।

जब शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी (नागर) अपभ्रंश विकसित होकर आधुनिक हिंदी का रूप धारण करने लगा, तब भारत के भाषा-समुदाय में उसका एक विशिष्ट स्थान हो गया। हिंदी का दो अर्थों में प्रयोग होता है। इन दोनों का

समझते हैं।

हिंदी और उर्दू की इस प्रतियोगिता के साथ साथ कुछ लोगों में यह भावना उत्पन्न हुई कि हिंदी और उर्दू के साधारण शब्दों का प्रयोग करके एक ऐसी भाषा की नींव डाली जाय जो न हिंदी हो और न उर्दू, पर जिसका प्रयोग हिंदी और उर्दू दोनों के बोलने वाले सुगमता से कर सकें। इस खिचड़ी भाषा का नाम हिंदुस्तानी रखा गया। इसके प्रचार का कुछ लोग उद्योग कर रहे हैं और उन्होंने एक प्रकार से इसका आंदोलन खड़ा कर दिया है। लगभग १०० वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद ने भी ऐसा ही उद्योग किया था और उसमें उन्हें गवर्मेन्ट की सहायता भी प्राप्त हुई थी, पर वे सफल-मनोरथ न हो सके। अब जो आंदोलन हो रहा है, उसमें प्रत्यक्ष रूप से गवर्मेन्ट का कोई हाथ नहीं देख पड़ता, पर परोक्ष रूप से गवर्मेन्ट इसकी सहायक जान पड़ती है। इस संदेह का बड़ा भारी प्रमाण यह है कि इन प्रदेशों में गवर्मेन्ट ने एक संस्था स्थापित की है जिसका उद्देश्य हिंदी और उर्दू की अलग-अलग उन्नति करना है, पर जिसके कुछ कार्यकर्ता हिंदी और उर्दू दोनों को मिलाकर एक करने का उद्योग करते हैं।

अब हमारे लिये विचार का विषय यह है कि क्या इस हिंदुस्तानी भाषा से हम देश को एक सूत्र में बाँध सकते हैं अथवा इसके द्वारा हिंदी और उर्दू दोनों को एक करके एक ऐसी भाषा को उपस्थित करेंगे जिसमें कोई साहित्य नहीं है

और न बन ही सकता है।

समस्त भारतवर्ष की भिन्न भिन्न भाषाओं में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग होता है। इसलिये यदि राष्ट्र की कोई भाषा हो सकती है तो वह वही होगी जिसमें इन शब्दों का अधिकांश प्रयोग होगा। पर ऐसी भाषा, जिसमें ५० प्रति सैकड़ा विदेशी शब्द होंगे, कभी यह स्थान ग्रहण न कर सकेगी। हिंदी की खड़ी बोली वाला रूप समस्त भारतवर्ष में थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ व्यवहृत होता है। इसके द्वारा भाव-विनिमय में सुगमता हो गई है और ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा, यह सुगमता बढ़ती जायगी और १०, २० वर्षों में वह पूर्णतया राष्ट्रीय आसन पर विराज जायगा। इसके द्वारा समस्त देश एकता के सूत्र में बँध सकेगा। राजनीति की दृष्टि से यह हो जाना विदेशीय शासन के लिये अहितकर और राष्ट्र-निर्माण के लिये हितकर होगा। अतएव जो लोग ऐसी हिंदुस्तानी का पक्ष ग्रहण कर रहे हैं, वे अनजान में अपने देश का अनिष्ट साधन कर रहे हैं और दासत्व की शृंखला दृढ़ करने में सहायक हो रहे हैं।

यदि इन लोगों को अपने उद्योग में सफलता मिली तो हमारा संसर्ग अपनी प्राचीन संस्कृति से छूट जायगा और हम अपने गौरव से पूर्णतया अनभिज्ञ रह कर अंधकार में टटोलते हुए आगे बढ़ेंगे और संभव है कि गढ़े में गिरकर अपना अंग-भंग कर बैठें।

इस संबंध में बड़े महत्त्व का प्रश्न यह है कि क्या इस

हिंदुस्तानी भाषा में साहित्य की रचना संभव है। किस्से कहानियों तथा साधारण विषयों के लेखों के लिये तो थोड़े परिमार्जन से यह भाषा काम की हो सकती है, पर शास्त्रीय तथा गंभीर विषयों के लिये यह सर्वथा अनुपयुक्त और असमर्थ है। गवर्मेन्ट का दो लाख रुपया खर्च करके प्रयाग की हिंदुस्तानी एकेडेमी अब तक एक शब्द का निर्माण या आविष्कार कर सकती है जिसे हिंदी और उर्दू दोनों में वह प्रयुक्त करती है, यद्यपि दोनों भाषाओं के साहित्यज्ञों ने इसे अंगीकार नहीं किया है। यह शब्द 'तिमाही' है, पर 'पत्रिका' और 'रिसालअ' के लिये उसे अभी तक कोई ऐसा शब्द नहीं मिला जो दोनों भाषाओं में चल सके। कदाचित् दो-चार लाख रुपये और खर्च कर लेने पर एक नया शब्द गढ़ लिया जाय जो उस संस्था के प्रकाशित ग्रंथों या लेखों में स्थान पा सके और जिसे कोई साहित्यिक स्वीकार करने का स्वप्न भी न देख सके।

वर्तमान काल में इस हिंदुस्तानी भाषा के कई प्रसिद्ध लोग परिपोषक हैं। अभी गत जनवरी मास में हिंदुस्तानी एकेडेमी का चतुर्थ साहित्य सम्मेलन हुआ था। इसके सभापति विहार के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ श्रीयुत सच्चिदानंद सिनहा थे। इन्होंने एक लंबे भाषण में हिंदुस्तानी का पक्ष समर्थन किया था। इस कार्य में उन्होंने कुछ तथ्य की बातों की अवहेलना भी की, पर उससे यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं है। दुःख का विषय है कि उन्होंने अपना भाषण अँगरेजी में दिया। यदि वे उस हिंदुस्तानी भाषा में बोलते जिसके प्रचार के वे इतने पक्षपाती हैं

तो अन्य लोगों को उस भाषा का एक नमूना मिल जाता और उनकी इस बात के समझने में सुगमता होती कि उनकी हिंदुस्तानी कैसी होगी। अतएव उस भाषण से हमें किसी प्रकार की सहायता नहीं प्राप्त हो सकती। डाक्टर ताराचंद ने धन्यवाद देते हुए एक भाषण दिया था जो हमारे अनुमान से उनकी निर्धारित हिंदुस्तानी भाषा में था। उसके अंत में उन्होंने कहा था—

"बड़ी हद तक यह काम शायर और अदीब, कवि और लेखक कर सकते हैं, वह नहीं जो लफ्जों के आडंबर रचते हैं, लेकिन वह जिनके लिये कहा है कि शायरी का दरजा पयंबरी है। यह लोग जबान के सँवारने वाले तो हैं ही, मनों के मिलाने वाले भी हो सकते हैं। अफसोस है इस वक्त ऐसे शायर और अदीब कम हैं जिनका कोई पयाम हो। क्यों नहीं हमारे कवि उस दुनिया का संदेशा देते जिसके सुनहले आस्मान पर अनंत सुख की मुस्कराहट है, जिसकी हरी-भरी जमीन पर शांति सदा राज करती है, और जहाँ सच, सुंदरता और आनंद की देवियों के मंदिर है? असली कवि वही है जिसका अनुभव, हिस, तेज है। वह इस दुनिया में कलियों की चटक, कुदरत के रसीले राग सुनता है, फूलों की शोखी, रुतों के अनोखे दृश्य देखता है, उसकी कल्पना तुरंत उसे दूसरी दुनिया में पहुँचा देती है, और वह यहाँ में वहाँ की लीला की झलक लाता है। वह आदमियों के व्यवहारों में कौतूहल का अनुभव करता है, समाज के जीवन प्रवाह का तमाशा देखता

है। उसकी विचार-शक्ति तख़ैयुल की ताक़त, आदमियों में और समाज की संस्थाओं में अपार दुनिया के पात्रों का चरित्र, अटल नैतिक और इख़लाक़ी क़ुव्वतों की कारवाई देखती है। कविता, नाटक, क़िस्से और कहानी उसकी चतुराई का पता देते हैं। क्योंकर वह अपनी रचना (तस्नीफ़) के बल से उस दूर से दूर लेकिन नज़दीक से नज़दीक दुनिया की ख़बर उड़ा लाता है और इस दुनियाँ के मामूली इंसानों तक पहुँचाकर उनके दिलों को उमंग, जोश और वलवले से भर देता है।"

यह हिंदुस्तानी का नमूना न होकर एक ऐसी खिचड़ी भाषा का नमूना हो गया है जिसमें साहित्य-रचना का सौष्ठव सर्वथा नष्ट हो गया है। जनवरी १६३६ को हिंदुस्तानी तिमाही पत्रिका में डाक्टर ताराचंद का भूमंडल शीर्षक एक लेख भी छपा है। वैज्ञानिक विषय है। एक नमूना लेकर देखना है कि इसमें कैसी भाषा का प्रयोग किया गया है—

"एक समय था जब मनुष्य के विचार में आकाश एक अनंत पिंड था, जो एक अक्षय शक्ति का केंद्र था, और जहाँ एक आदि ज्योति प्रकाशमान थी। यहाँ विश्वात्मा का आधिपत्य था; प्रेम और आनंद का साम्राज्य था। यह वह आकाश था जो इस जगत के नव आकाशों को घेरे हुए था, और इन सबसे अलग तथा ऊपर था यह चिर शांति का स्थान था, और परिवर्तन तथा गति से परे था। हमारा परिवर्तन-शील विश्व नव पिंडों का समूह था, जिनमें पृथ्वी बिलकुल बीच में स्थित थी, और उसके आकाश

में चन्द्रमा का राज्य था। इसके चारों ओर बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, बृहस्पति, शनि यह छः ग्रह अपने अपने चमकते हुए आकाशों के साथ परिक्रमा करते थे। इनके ऊपर नक्षत्रों से भरा हुआ नीलाकाश था, जो एक व्योमाकाश से परिवेष्टित था। यही मनुष्य का सर्वस्व था. और मनुष्य स्वयं इस विश्व के दस मंडलों का एक सूक्ष्म रूप था।"

आश्चर्य की बात है कि हिंदुस्तानी भाषा के कट्टर पक्षपाती होते हुए भी हिंदुस्तानी एकेडेमी के मंत्री महाशय हिंदुस्तानी भाषा के समर्थन में कोई प्रामाणिक बात न कह सके।

इसी चतुर्थ सम्मेलन के उर्दू विभाग के सभापति मौलवी अब्दुलहक़ थे। उन्होंने अपने भाषण के अंत में कहा था—

हिंदुस्तानी एकेडेमी का वजूद इस सूबे में बहुत ग़नीमत है। वह इसी क़िस्म के मसायल हल करने और इसी तरह की इसलाहें अमल में लाने के लिये क़ायम की गई थी। मैं इस वक्त इसके कामों पर कोई तज़करा करना नहीं चाहता लेकिन एकेडेमी के कारफ़रमाओं की ख़िदमत में इस क़दर अर्ज़ करने की जुरअत करता हूँ कि जब एकेडेमी ने हिंदुस्तानी का लक़ब अख़्तिआर किया है और हिंदुस्तानी के रवाज का बीड़ा उठाया है, तो क्यों अब तक कुछ किताबें ऐसी तालीफ़ नहीं कराई गईं और कोई रिसाला ऐसा नहीं शाया किया गया जो हिंदुस्तानी ज़बान में और बजिंसहू बग़ैर किसी तग़य्युर व तब्दीली के दोनों रस्म ख़त में लिखा जा सके। अगर यह

मुमकिन हो और एकेडेमी इसकी कोशीश करे तो जबान की बड़ी खिदमत होगी। और यह जो एतराज है कि हिंदुस्तानी की दौड़ सिर्फ मामूली बोल चाल और कारबार तक है और अदब में उसकी कोई हैसियत नहीं, बहुत कुछ रफ़ा हो जायगा। और इससे भी ज्याद: मुफ़ीद काम जो एकेडेमी कर सकती है वह यह है कि वह इसी जबान में ऐसी रीडरें तैयार कराए जो दोनों रस्म खत में लिखी जाएँ और मदारिस में रायज की जाएँ, इसलिए वह दोरंगी जो इस वक्त इस सूबे के मदारिस में पाई जाती है, खुद ब खुद उठ जायगी। और लड़के इब्तिदा से ऐसी जबान लिखने और बोलने के आदी हो जायँगे, जो इस इलाके का हर शख्स समझ सकता है। हिंदुस्तानी के रवाज का सबसे बड़ा जरिया यह मदारिस हो सकते हैं। जबान एक हो जायगी तो रस्म खत की नज़ाअ आपसे आप उठ जायगी। अभी जबान ही एक नहीं, रस्म खत की बहस कैसी !"

इन सब बातों पर विचार करने से यही सिद्धांत निकलता है कि इन महानुभावों को इस बात में संदेह है कि हिंदुस्तानी भाषा कभी ऐसी अवस्था को प्राप्त कर सकेगी कि उसमें साहित्य की रचना हो सके अथवा उसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रांतों में भाव-विनियम हो सके। इसमें संदेह नहीं कि राष्ट्रीय भावना का विस्तार होने के साथ ही साथ एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होगी जो राष्ट्र के निर्माण में सहायक हो सके। यह काम हिंदी दे रही है और उसी के इस राष्ट्रीय आसन

पर विराजने की पूरी संभावना है। बोल-चाल और साहित्य की भाषा में कुछ न कुछ अंतर अवश्य होगा और बोल-चाल की भाषा में ऐसे शब्दों का स्वतः समावेश हो जायगा जो सब से अधिक प्रचलित होंगे। इसमें उर्दू के ही शब्द नहीं रहेंगे, वरन प्रत्येक प्रांतीय भाषा के नित्य व्यवहार में आने वाले शब्द होंगे। हम लोग नगरों में रहते हैं, वहीं हमारी सभ्यता का विकास होता है और वहीं हमारी संस्कृति का रूप स्थिर होता है, पर हम यह बात भूल जाते हैं कि नगरों का वातावरण कृत्रिम होता है। इसमें बनावट का अंश बहुत अधिक रहता है। यदि देश का वास्तविक रूप का दर्शन करना हो तो वह गाँवों में मिलेगा। यदि हम एक ऐसी भाषा की खोज में हों जो देश में नित्य व्यवहार के काम में आ सके तो हम लोगों में कुछ लोगों की दो टोलियाँ बनें— एक तो उत्तर-पश्चिम प्रांत से, मध्य देश के गाँवों में होती हुई मद्रास तक चली जाय और दूसरी राजपूताने, गुजरात से होती हुई महाराष्ट्र देश तक चली जाय। ये दोनों टोलियाँ गाँवों के लोगों से मिल कर इस बात की खोज करें कि वे किन किन शब्दों का प्रयोग अपने नित्य के काम-काज में करते हैं। ऐसे शब्दों का संग्रह ही वास्तविक बोल-चाल की भाषा की नींव का काम देगा और उसके आधार पर ऐसी भाषा की अंग-पुष्टि होगी जो देश के एक कोने से दूसरे कोने तक साधारण भाव-विनिमय का काम देगी। साहित्य के निर्माण के लिये भिन्न भिन्न प्रांतीय भाषाओं को विकसित

और परिपुष्ट करना आवश्यक होगा। राष्ट्रीय साहित्य में साहित्यिक हिंदी काम देगी।

कुछ वर्षों से अँगरेजों ने इस बात की पुकार मचा दी है कि उच्च हिंदी और उच्च बँगला में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करके उसे कृत्रिम भाषा का रूप दिया जा रहा है। पर ये लोग इस बात को भूल जाते हैं कि बिना इस प्रकार के शब्दों के उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण असंभव है। यदि अँगरेजी में से फ्रेंच, लैटिन, ग्रीक आदि के व्युत्पन्न शब्दों को निकाल दिया जाय तो उसके वैज्ञानिक साहित्य का कहीं पता भी न रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्सम शब्दों का विरोध और दोरंगे शब्दों का प्रयोग का पक्ष प्रायः वे ही लोग करते हैं जिनका स्वयं साहित्य-निर्माण से कोई संबंध नहीं है और जो अपनी आरामकुर्सी पर बैठ देश के भविष्य का स्वप्न देखते हुए वास्तविकता से दूर कल्पना के जगत् में विचरते हैं तथा हवा में किले बनाने का निष्फल प्रयास करते हैं।

---

(७) हमारी लिपि

देवनागरी लिपि के संबंध में कुछ लोगों का आक्षेप है कि उसमें कई बातों के सुधार की आवश्यकता है। इन लोगों का कहना है कि हमारी भाषा में कई नवीन उच्चारण आ गए हैं, और उनके लिए नवीन चिह्नों का बनना आवश्यक है। दूसरे लोगों का कहना है कि हमारी लिपि में एक बड़ी भारी त्रुटि यह है कि उसमें शीघ्रता से लिखा नहीं जा सकता और छापे में बहुत अधिक अक्षरों को ढालने की आवश्यकता पड़ती है। इन आपत्तियों को महत्व देने के लिए यह भी कहा जाता है कि राष्ट्र के भविष्य का ध्यान रख कर हम लोगों को अपनी लिपि में ऐसे सुधार करने चाहिएँ, जिससे वह समस्त देश में स्वीकृत हो सके।

कदाचित इस बात के स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि हमारी देवनागरी लिपि की बड़ी भारी विशेषता यह है कि जो भिन्न भिन्न प्रकार के नाद हमारे भारतीय नाद-यंत्रों द्वारा साधारणतः हो सकते हैं, उनके नामकरण भी उन्हीं नादों के अनुसार किए गये हैं। अ या क अक्षरों के सूचक नाद भी अ और क ही हैं, यह नहीं है कि ए, अलिफ या अल्फा तो अक्षरों का नाम हो और वे सूचित करें अ या उससे मिलते-जुलते नादों को। संसार की और किसी लिपि में यह विशेषता नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस स्वत-

स्था के कारण हमारी देव नागरी लिपि को पढ़ने या बालकों को अक्षर ज्ञान कराने में बहुत सुविधा होती है जिसे सुरक्षित रखना हमारा परम कर्त्तव्य है।

कंठ-पिटक में स्थित स्वर-तंत्रियाँ दो होठों के समान होती हैं। उनके बीच में अवकाश रहता है। ये स्वर-तंत्रियाँ स्वर की भाँति फैलती और संकुचित होती रहती हैं। इससे कभी वे एक दूसरी से अलग रहती हैं और कभी इतनी मिल जाती हैं कि उनमें से हवा का निकलना असंभव सा हो जाता है। जब ये तंत्रियाँ मिली रहती हैं और हवा धक्का देकर उनमें से निकलती है, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह नाद कही जाती है; और जब ये तंत्रियाँ अलग अलग रहती हैं और हवा उनके बीच में से होकर निकलती है, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे श्वास कहते हैं। जब किसी नाद ध्वनि को मुख में से निकलने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती, अर्थात् केवल जिह्वा की अवस्था में अंतर पड़ने के अतिरिक्त और किसी प्रकार का स्पर्श या घर्षण न होकर ध्वनि मुख से बाहर निकलती है, तब स्वरों का उच्चारण होता है, पर व्यंजनों के उच्चारण में स्पर्श या घर्षण होता है। देवनागरी वर्णमाला में अ, इ, उ ह्रस्व हैं और आ, ई, ऊ, ऐ, औ दीर्घ हैं। इसके अतिरिक्त अ और औ अर्धविवृत हैं, अर्थात् इनके उच्चारण में जीभ जितनी नीचे जा सकती है, उसकी एक तिहाई नीचे जाती है। आ में जीभ जितना हो सकता है उतना नीचे जाती है। शेष स्वर सब संवृत्त हैं, केवल ए अर्ध संवृत

है। संवृत स्वरों के उच्चारण में जीभ बिना किसी प्रकार की रगड़ खाए यथासंभव ऊपर उठ जाती है और अर्ध संवृत में केवल एक तिहाई ऊपर उठती है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर-तंत्रियों की स्थिति और मुख की विशिष्ट आकृति के कारण भिन्न-भिन्न स्वरों का उच्चारण होता है। ये स्वर व्यंजनों के साथ लगकर उनके उच्चारणों में परिवर्तन करते हैं, अतएव उनके लिये मात्राओं की व्यवस्था की गई है। स्वरों में भी मात्राओं का प्रयोग करना शास्त्रीय दृष्टि से इस शास्त्र के मूल में कुठाराघात करना है। अ और इ या उ के उच्चारण में भेद है, अतएव इनके रूप भी अलग अलग हैं—इ को अि और उ को अु लिखना अपनी अज्ञानता यह कह कर प्रकट करना है कि अ में इ या उ का उच्चारण मिल गया है, जब कि दोनों अलग अलग उच्चारणों के द्योतक हैं।

इसी प्रकार व्यंजनों का वर्गीकरण भी हुआ है—

कंठ्य—जिह्वामध्य का जब कोमल तालु से स्पर्श होता है, तब इन वर्णों का उच्चारण होता है।

मूर्द्धन्य—कठोर तालु के पिछले भाग और जिह्वाग्र के स्पर्श से ये वर्ण उच्चरित होते हैं।

तालव्य—कठोर तालु और जिह्वोपाग्र के स्पर्श से इनका उच्चारण होता है।

दंत्य—ऊपरी दाँतों की पंक्ति और जिह्वाग्र के स्पर्श से इनका उच्चारण होता है।

ओष्ठ्य—ओष्ठों अथवा दाँत और ओष्ठ के स्पर्श द्वारा इनका

उच्चारण होता है।

इससे स्पष्ट है कि कोमल तालु, कठोर तालु का पिछला भाग, दाँत और ओष्ठों से जिह्वा के मध्य, अग्र, उपाग्र तथा ओष्ठ के स्पर्श से यह क्रिया होती है: अर्थात् क्रमशः जिह्वा के विशिष्ट भाग, तालु के विशिष्ट भागों तथा अंत में दाँतों से स्पृष्ट होकर व्यंजनों का उच्चारण करते हैं। इन सब बातों का सारांश यह है कि जिन महर्षियों ने इन वर्णों की व्यवस्था की थी और उनका क्रम निर्धारित किया था उन्होंने नाद-यंत्रों की स्थिति तथा उनके परस्पर संयोग या वियोग पर विचार करके यह काम किया था। ऐसा नहीं किया कि मनमाना क्रम ए, वी, सी, डी, अलिफ, बे, पे, ते, एल्फा, बीटा, गामा, डेल्टा रख दिया है।

जिन वर्णों का क्रम वैज्ञानिक अनुशीलन और निरीक्षण पर स्थित हो, उनकी महत्ता कितनी अधिक है और यह उन वर्णों के प्रयोग करने वालों के लिये कितने गौरव की बात है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। संसार की भाषा की वर्णमाला में वह वैज्ञानि[illegible] नहीं है
देवनागरी लिपि को हमारे म[illegible] से प्रा
कदाचित् यह बतलाने की आ[illegible] कि इ[illegible]
नागरी अक्षरों के उच्चारण के अ[illegible] ने [illegible]
लेखन-प्रणाली का आविष्कार

अब प्रश्न यह है कि जो ऐ[illegible] और
वर्णमाला है और जिसकी [illegible]

नहीं कर सकती, क्या उसमें परिवर्तन या सुधार की आवश्यकता है? इसमें संदेह नहीं कि संसार की भिन्न भिन्न जातियों में जब परस्पर मेल मिलाप होता है, चाहे वह किसी भी कारण से हो, तब उनमें विचारों और भावों का विनिमय आरंभ हो जाता है और उन भावों तथा विचारों के साथ साथ नए नए शब्दों का भी परस्पर लेन-देन होने लगता है। इस प्रकार शब्दों का आगम होता है। पर जो सशक्त भाषाएँ हैं वे अपनी सत्ता बनाए रखती हैं तथा दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेकर उनको इस प्रकार अपनी भाषा के व्याकरण से अनुमोदित और अनुशासित कर लेती हैं तथा अपने उच्चारण के अनुकूल बना लेती हैं कि उनका विदेशीपन दूर होकर वे उनकी अपनी संपत्ति बन जाते हैं। पर हम अपने आपको इतना भूल गए हैं कि इन आगत शब्दों का विदेशीपन बनाए रखने में ही अपना गौरव समझते हैं। शास्त्रज्ञों का कहना है कि जब एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्द आते हैं, तब उनके रूप का परिवर्तन सामान्यतः इन नियमों के अनुसार होता है—

(१) जब एक भाषा किसी दूसरी भाषा से कोई शब्द ग्रहण करती है, तब उस शब्द के रूप में ऐसा परिवर्तन हो जाता है जिससे वह शब्द दूसरी भाषा में सुगमता से अंतर्लीन हो जाता है। इस सिद्धांत का मूल आधार नाद-यंत्र से संबंध रखता है और उसी के अनुसार शब्दों के रूप में परिवर्तन होता है।

उच्चारण होता है।

इससे स्पष्ट है कि कोमल तालु, कठोर तालु का पिछला भाग, दाँत और ओष्ठों से जिह्वा के मध्य, अग्र, उपाग्र तथा ओष्ट के स्पर्श से यह क्रिया होती है: अर्थात् क्रमशः जिह्वा के विशिष्ट भाग, तालु के विशिष्ट भागों तथा अंत में दाँतों से स्पृष्ट होकर व्यंजनों का उच्चारण करते हैं। इन सब बातों का सारांश यह है कि जिन महर्षियों ने इन वर्णों की व्यवस्था की थी और उनका क्रम निर्धारित किया था उन्होंने नाद-यंत्रों की स्थिति तथा उनके परस्पर संयोग या वियोग पर विचार करके यह काम किया था। ऐसा नहीं किया कि मनमाना क्रम ए, वी, सी, डी, अलिफ, बे, पे, ते, एल्फा, बीटा, गामा, डेल्टा रख दिया है।

जिन वर्णों का क्रम वैज्ञानिक अनुशीलन और निरीक्षण पर स्थित हो, उनकी महत्ता कितनी अधिक है और यह उन वर्णों के प्रयोग करने वालों के लिये कितने गौरव की बात है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। संसार की किसी भाषा की वर्णमाला में वह वैज्ञानिक सुव्यवस्था नहीं है जो देवनागरी लिपि को हमारे महर्षियों की कृपा से प्राप्त है। कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि इन्हीं देव-नागरी अक्षरों के उच्चारण के आधार पर पिटमैन ने त्वरित लेखन-प्रणाली का आविष्कार किया था।

अब प्रश्न यह है कि जो ऐसी सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक वर्णमाला है और जिसकी समता संसार की कोई वर्णमाला

नहीं कर सकती, क्या उसमें परिवर्तन या सुधार की आवश्यकता है? इसमें संदेह नहीं कि संसार की भिन्न भिन्न जातियों में जब परस्पर मेल मिलाप होता है, चाहे वह किसी भी कारण से हो, तब उनमें विचारों और भावों का विनिमय आरंभ हो जाता है और उन भावों तथा विचारों के साथ साथ नए नए शब्दों का भी परस्पर लेन-देन होने लगता है। इस प्रकार शब्दों का आगम होता है। पर जो सशक्त भाषाएँ हैं वे अपनी सत्ता बनाए रखती हैं तथा दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेकर उनको इस प्रकार अपनी भाषा के व्याकरण से अनुमोदित और अनुशासित कर लेती हैं तथा अपने उच्चारण के अनुकूल बना लेती हैं कि उनका विदेशीपन दूर होकर वे उनकी अपनी संपत्ति बन जाते हैं। पर हम अपने आपको इतना भूल गए हैं कि इन आगत शब्दों का विदेशीपन बनाए रखने में ही अपना गौरव समझते हैं। शास्त्रज्ञों का कहना है कि जब एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्द आते हैं, तब उन के रूप का परिवर्तन सामान्यतः इन नियमों के अनुसार होता है—

(१) जब एक भाषा किसी दूसरी भाषा से कोई शब्द ग्रहण करती है, तब उस शब्द के रूप में ऐसा परिवर्तन हो जाता है जिससे वह शब्द दूसरी भाषा में सुगमता से अंतर्लीन हो जाता है। इस सिद्धांत का मूल आधार नाद-यंत्र से संबंध रखता है और उसी के अनुसार शब्दों के रूप में परिवर्तन होता है।

(२) जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब वह शब्द उस ग्राहक भाषा के अनुरूप उच्चारण के शब्द या निकटतम मित्राक्षर शब्द से, जो उस भाषा में पहले से वर्तमान रहता है, प्रभावान्वित होकर कुछ अक्षरों का लोप करके अथवा कुछ नए अक्षरों के मेल से उसके अनुकूल रूप धारण करता है।

(३) जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब उस ग्राहक भाषा के व्याकरण के नियमों के अनुसार उस आगत शब्द का उस भाषा में, पूर्व-स्थित अनुरूप शब्दों की भाँति, अनुशासन होता है, अथवा उस ग्राहक भाषा की प्रकृति के अनुसार उसका व्याकरण संबंधी रूप स्थिर होता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि विदेशी शब्दों को लेकर उनका उच्चारण अपनी भाषा के अनुकूल बनाकर अपने शब्द-भांडार में सम्मिलित करना ही अपने गौरव के अनुकूल होगा। इस अवस्था में नए उच्चारणों को अपनी वर्णमाला में स्थान देने और उनके लिए नए चिह्नों के बनाने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, भाषा-शास्त्र के विवेचन में सब भाषाओं के भिन्न भिन्न उच्चारणों के लिये संकेत स्थिर करने की आवश्यकता होती है जिसमें भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन हो सके। परंतु भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये ही इन चिह्नों का ज्ञान आवश्यक है, सर्व साधारण के लिये इसकी आवश्यकता नहीं है। योरपवालों ने भी, जिनका अंध अनुकरण लोग करना चाहते हैं, इन चिह्नों को अपनी वर्णमाला में स्थान

नहीं दिया है।

इस संबंध में इसको विचारणीय बात यह है कि क्या वर्तमान देवनागरी लिपि के रूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। जब से छापे की कलों का आविष्कार और प्रचार हुआ है, तब से अनेक भाषाओं में लिखने के अक्षरों और छापे के अक्षरों के रूप में अंतर पड़ गया है। अक्षरों को लिपिबद्ध करने की जब संसार को आवश्यकता हुई और लोगों ने अपनी अपनी नाद-सामग्री के अनुसार उनके द्योतक-चिह्नों का निर्माण किया, उस समय लिखने की सामग्री उपस्थित न थी। धातु या प्रस्तर-खंडों पर किसी नुकीली वस्तु से पहले-पहल अक्षर लिखे गए होंगे और स्वभावतः ये अक्षर कोणाकार रहे होंगे। क्रमशः ज्यों ज्यों उपयुक्त लेखन-सामग्री का आविष्कार हुआ और वह चिकनी, पतली और टिकाऊ बनती गई तथा कलमों का विकास होता गया और वे लचीली तथा चिपटी होती गईं, त्यों त्यों अक्षरों में भी गोलाई आती गई। यही संसार में अक्षरों के विकास का इतिहास है। आगे चलकर भिन्न भिन्न देशों ने अपने अपने अक्षरों को सुंदर से सुंदर रूप देने का उद्योग किया। जब हमारे कार्यों में त्वरा की आवश्यकता हुई अर्थात् थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक कार्य कर लेने की इच्छा बलवती हुई तब लिखने और छापने के अक्षरों में अंतर पड़ गया। अंत में लोगों ने यह सिद्धांत निकाला कि त्वरा के अक्षरों में यह गुण होना आवश्यक है कि बिना कलम उठाए कई अक्षर एक साथ लिखे

जा सकें। स्वभावतः ऐसा करने में त्वरा की उपलब्धि तो हुई, पर साथ ही सौंदर्य तथा सुस्पष्टता की हानि भी हुई। दोनों का परस्पर इतना वैर भाव है कि वे दोनों साथ नहीं रह सकते। लिखने के रोमन अक्षरों की असुंदरता तथा अस्पष्टता को दूर करने के लिये टायप-राइटरों का आविष्कार हुआ। अब हमको यह विचार करना चाहिए कि हमें अपने सुंदर देवनागरी अक्षरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

क्या हमें लिखने और छापने के अक्षरों को दो भिन्न भिन्न रूप देकर इस संबंध में अन्य प्रांतों तथा देशों का अनुकरण करना चाहिए अथवा उनके एक ही रूप को स्थिर रखने का ध्येय सामने रखकर कार्य करना चाहिए। देवनागरी अक्षरों को भी दो भिन्न भिन्न रूप देने का उद्योग पहले किया जा चुका है। कैथी तथा मुंडा अक्षर इसके प्रमाण हैं। ये दोनों ही देवनागरी अक्षरों से विकृत होकर चले, पर जन साधारण ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। बँगला में भी इस विभेद को स्थान देने का प्रयत्न हुआ और उसमें अब तक लिखने और छापने के अक्षरों के भिन्न भिन्न रूप वर्तमान हैं। इन विभिन्नताओं के कारण स्पष्टता का कितना नाश हुआ और कैसे उलटी गंगा बहाकर कई अवसरों पर अर्थ का अनर्थ हो गया यह कई बेर प्रसिद्ध हो चुका है। हमारी समझ में अभी देवनागरी अक्षरों को दो भिन्न भिन्न रूप देने की आवश्यकता नहीं। हमको इस बात का उद्योग करना चाहिए कि जैसे हमारी वर्णमाला के नाद और नाद-सूचक चिह्न एक हैं, वैसे

ही हमारी लिखने और छापने की लिपि भी एक ही बनी रहे और हिंदी पढ़ने वालों को दो लिपियों के सीखने की आवश्यकता न हो। भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक इन अक्षरों का प्रचार है। इन्हीं में हमारा प्राचीन साहित्य लिखित है और इन्हीं में हमारे धर्म-ग्रंथ रक्षित हैं आज बलपूर्वक परिवर्तन को विकास का नाम देकर नागरी लिपि में उलट-फेर करने का उपक्रम हो रहा है। परंतु इस बात को लोग भूले जा रहे हैं कि ऐसा करने से हम युगों के स्वाभाविक विकास से प्राप्त लाभ से हाथ धो बैठेंगे। नागरी लिपि अत्यंत प्राचीन लिपि के स्वाभाविक विकास का फल है। आगे के लिए विकास की धारा सर्वथा बंद हो जानी चाहिए, यह हमारा कथन नहीं है। बहुत ही आवश्यक थोड़े से परिवर्तनों से लिपि का मूल्य अधिक बढ़ सकता है, जैसे ण के स्थान पर इस अक्षर के ण रूप की स्वीकृति। परंतु लिपि में ऐसा कोई उत्कट परिवर्तन नहीं होना चाहिए जिससे उसका रूप एकदम बे-जाना पहचाना हो जाय और संस्कृत से हमारे संबंध-विच्छेद की आशंका आ उपस्थित हो अथवा आज-कल की छपी और लिखी सामग्री कुछ वर्षों के उपरांत केवल पुरातत्त्व-विदों के काम की रह जाय।

स्वाभाविक विकास में सर्वांग-पूर्णता की ओर जितना झुकाव रहता है, उतना कितने ही विज्ञ-व्यक्तियों के भी जान-बूझकर किए गए परिवर्तन में नहीं होता। एक वर्ग भर के मस्तिष्क का फल है, दूसरा थोड़े से व्यक्तियों के मस्तिष्क

का। केवल थोड़ी सी सुविधा के लिये प्राचीन गौरव से प्रतिष्ठित इस समस्त संपत्ति को नष्ट कर देना और एकता के स्थान पर विभिन्नता का अधिकार फैला देना श्रेयस्कर न होगा।

फिर भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न लिपियों का प्रचार है। यह प्रचार रोका नहीं जा सकता और न विद्या तथा ज्ञान के प्रचार तथा प्रसार के ध्यान से इसे रोकना ही हितकर है। इस अवस्था में जैसे भिन्न भिन्न प्रांतीय भाषाओं के वर्तमान रहते, उन्हें जीवित तथा उन्नतिशील रख कर राष्ट्र की परस्पर विनिमय की एक भाषा का स्थान हिंदी सर्व-सम्मति से ग्रहण कर रही है, वैसे ही भिन्न भिन्न देशीय लिपियों को रखते हुए एक राष्ट्रीय लिपि के सुंदर रूप को स्थिर रखना हमारा धर्म है। इसमें उलट-फेर करना तथा विकास के नाम पर उसका विकार या विनाश करना दूरदर्शिता का प्रमाण नहीं होगा।

इसी प्रश्न के साथ छापे के टाइपों का प्रश्न भी हल हो जाता है। मशीनें किसी कार्य में सुगमता उत्पन्न करने लिये बनाई जाती हैं। यह कहीं देखने या सुनने में नहीं आया कि मशीनों के लिये उस कार्य में उलट-फेर कर दिया जाय। मशीनों के निर्माणकर्ता वर्तमान स्थिति में सुविधा देने के लिये अपने मस्तिष्क को क्रियमाण करके नवीन आविष्कार करने का उद्योग करें। यह आवश्यक नहीं कि उनकी सुविधा के लिये हम अपने अक्षरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दें। जो निश्चित लाभ है उसे अनिश्चित के पीछे दौड़कर नष्ट कर देना बुद्धि-

मानी नहीं है।

इस स्थान पर फारसी या रोमन अक्षरों के संबंध में कुछ कहना आवश्यक नहीं है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसी-से इनके विषय में सिद्धांत स्थिर हो सकते हैं। वैज्ञानिक तथा सर्वांग पूर्ण अक्षरों के स्थान पर अवैज्ञानिक तथा अपूर्ण अक्षरों का प्रचार करके अथवा उनको प्रश्रय देकर एकता की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ना अपने को भूख तथा प्यास से मारना होगा। रोमन तथा फारसी अक्षरों में अनेक नादों के लिये चिह्न नहीं हैं। कई नादों के लिये एक से अधिक चिह्न हैं। इस स्थिति में बुद्धिमानी यही है कि अपनी प्राचीन गौरवान्वित संस्कृति की रक्षा के लिये हम ऐसी संपत्ति को न बेच डालें जो सहस्रों वर्षों से हमारे मस्तिष्क तथा हृदय का भरण-पोषण करती आई है और जिसने हमारी भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण रखा है; और उसके स्थान पर ऐसी वस्तुएँ ग्रहण कर लें जिनकी बाहरी तड़क-भड़क तो कदाचित् आकर्षक हो पर जिनसे वास्तविक लाभ की कोई आशा नहीं है।

---

(८) भारतीय साहित्य का विवेचन

किसी साहित्य का अध्ययन करते करते हमें इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है कि हमें उस साहित्य का क्रमप्राप्त इतिहास अवगत हो जाता तो बड़ी बात होती, हम उसका और भी गहरा अध्ययन कर सकते। बात यह है कि साहित्य और उसके इतिहास में अन्योन्याश्रय संबंध है। एक के ज्ञान के लिये दूसरे का ज्ञान आवश्यक है। किसी प्रतिभाशाली ग्रंथकार की स्थिति अपने ही काल और अपने ही व्यक्तित्व से सीमाबद्ध नहीं होती। वह उनसे भी आगे बढ़ जाती है, यहां तक कि वह पीछे की भी खबर लेती है। उसका संबंध भूत और भविष्य दोनों से होता है। समय की शृंखला में कवि या ग्रंथकार बीच की कड़ी के समान होता है। जिस प्रकार शृंखला में आगे और पीछे की कड़ियाँ बीचवाली कड़ियों में संलग्न रहकर उस शृंखला का अस्तित्व बनाए रहती हैं, उसी प्रकार प्रतिभाशाली ग्रंथकार अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों का फल स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों का फूल स्वरूप है। जैसे फूल के अनंतर फल का आगमन होता है, वैसे ही ग्रंथकार भी एक का फल और दूसरे का फूल होता है। भूत और भविष्य के इस संबंध-ज्ञान की कृपा से हम वर्तमान ग्रंथकारों तक भी पहुँच जाते हैं। अंत में इस प्रकार चलते चलते हम साहित्य के जातीय स्वरूप तक पहुँच सकते

है। वहाँ तक पहुँचने पर हम इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि वह जातीय साहित्य भी कुछ सत्ता रखता है और वह सत्ता सजीव-सी है, क्योंकि जैसे जाती जागता मनुष्य प्राणी प्राकृतिक नियमों के वशीभूत होकर विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को पार करता हुआ उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही जातीय साहित्य भी उन्नति करता जाता है, अतएव किसी साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि से हमें दो बातों का विचार करना पड़ता है—एक तो उसके परंपरागत जीवन पर अर्थात् उसके जातीय भाव पर और दूसरे उस जीवन के परिवर्तनशील रूप पर; अर्थात् इस बात पर कि वह जातीय जीवन किस प्रकार भिन्न भिन्न समयों के भावों को अपने में अंतर्हित करके उन्हें व्यंजित करता है अतएव किसी जाति के काव्य-समूह या साहित्य के अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि उस जाति या देश का मानसिक जीवन कैसा था और वह क्रमशः किस प्रकार विकसित हुआ।

पहले हमें यह जानना चाहिए कि जब हम किसी देश के जातीय साहित्य के इतिहास का उल्लेख करते हैं, तब उससे हमारा तात्पर्य क्या होता है, अर्थात् जब हम भारतीय आर्य जाति का साहित्य, यूनानी साहित्य, फ्रांसीसी साहित्य, या अँगरेजी साहित्य आदि वाक्यांशों का प्रयोग करते हैं तब हम कौन सी बात व्यंजित करना चाहते हैं। कुछ लोग कहेंगे कि इन वाक्यांशों का तात्पर्य यही है कि उन भाषाओं में

कौन-कौन से लेखक हुए, वे कब-कब हुए, उन्होंने कौन-कौन से ग्रंथ लिखे, उन ग्रंथों के गुण दोष क्या हैं और उनके साहित्यिक भावों में क्या-क्या परिवर्तन हुए। यह ठीक है, पर जातीय साहित्य में इन बातों के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। जातीय साहित्य केवल उन पुस्तकों का समूह नहीं कहलाता जो किसी भाषा या किसी देश में विद्यमान हों। जातीय साहित्य जाति-विशेष के मस्तिष्क की उपज और उसकी प्रकृति के उन्नतिशील तथा क्रमागत अभिव्यंजन का फल है। संभव है कि कोई लेखक जातीय आदर्श से दूर जा पड़ा हो और उसकी यह विभिन्नता उसकी प्रकृति की विशेषता से उत्पन्न हुई हो. परंतु फिर भी उसकी प्रतिभा में स्वाभाविक जातीय भाव का कुछ न कुछ अंश वर्तमान रहेगा ही, उसे वह सर्वथा छोड़ नहीं सकता। यदि स्वाभाविक जातीय भाव किसी काल में वर्तमान कुछ ही चुने हुए स्वनामधन्य लेखकों में पाया जायगा तो हम कह सकेंगे कि उस काल के जातीय साहित्य की यही विशेषता थी। जब हम कहते हैं कि अमुक काल के भारतीय आर्यों, यूनानियों या फ्रांसीसियों का जातीय भाव ऐसा था तब हमारा यह तात्पर्य नहीं होता कि उस काल के सभी भारतीयों, यूनानियों या फ्रांसीसियों के विचार, भाव या मनोवेग एक से थे। उससे हमारा यही तात्पर्य होता है कि व्यक्तिगत विभिन्नता को छोड़कर जो साधारण भाव किसी देश और काल में अधिकता से वर्तमान होते हैं वे ही भाव जातीय प्रकृति के व्यंजक या

बोधक होते हैं और उन्हीं को जातीय भाव कहते हैं । उन्हीं जातीय भावों का विवेचनापूर्वक विचार करके हम इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि अमुक जाति के जातीय भाव ऐसे थे। उन्हीं के आधार पर हम किसी जाति की शक्ति, उसकी त्रुटि और उसकी मानसिक तथा नैतिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा इस बात का अनुभव करते हैं कि उस जाति ने संसार की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति में कहाँ तक योग दिया। मध्यकाल अर्थात् सन् ईसवी की दसवीं से चौदहवीं शताब्दियों के बीच यूरोप में किसी नवयुवक की शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती थी, जब तक वह यूरोप के सभी मुख्य-मुख्य देशों में पर्यटन न कर आता था। इसका उद्देश्य यही था कि वह अन्य देशों के निवासियों, उनकी भाषाओं, उनके रीति-रिवाज तथा उनकी सार्वजनिक संस्थाओं आदि का ज्ञान प्राप्त कर ले, जिसमें पारस्परिक तुलना से वह अपने जातीय गुण दोषों का ज्ञान प्राप्त कर सके और अपने शील स्वभाव तथा व्यवहार को परिमार्जित एवं सुंदर बना सके। साहित्य का अध्ययन भी एक प्रकार का पर्यटन ही है। उसके द्वारा हम अन्य देशों और जातियों के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन से परिचय प्राप्त करते और उनसे निकटस्थ संबंध स्थापित करके उपार्जित ज्ञान-भंडार के रसास्वादन में समर्थ होते हैं। देश-दर्शन के लिये की गई साधारण यात्रा और साहित्यिक यात्रा में बड़ा भेद है। साधारण यात्रा तो हम किसी निर्दिष्ट काल में ही कर

सकते हैं. पर साहित्यिक यात्रा के लिये काल का कोई बंधन नहीं होता। यह यात्रा हम चाहे जिस काल में कर सकते हैं। तात्पर्य यह कि हम किसी भी जाति की, किसी भी काल की विद्वत्‌मंडली से, जब चाहें, परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये किसी प्रकार का अवरोध या बंधन नहीं है।

इस प्रकार दूसरी जातियों के साहित्य के इतिहास का अध्ययन करके हम उस जाति की प्रतिभा, उसकी प्रवृत्ति, उसकी उन्नति आदि के क्रमिक विकास का इतिहास जान सकते हैं। इस दशा में साहित्य इतिहास का सहायक और व्याख्याता हो जाता है। इतिहास हमें यह बतलाता है कि किसी जाति ने किस प्रकार अपनी सांसारिक सभ्यता को बढ़ाया और वह क्या करने में समर्थ हुई। साहित्य बताता है कि जाति-विशेष की आंतरिक वासनाएँ, भावनाएँ, मनोवृत्तियां तथा कल्पनाएँ क्या थीं। उनमें क्रमशः कैसे परिवर्तन हुआ, सांसारिक जीवन के उतार-चढ़ाव का उन पर कैसा प्रभाव पड़ा, और उस प्रभाव ने उस जाति के मनोविकारों और मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन को नए साँचे में कैसे ढाला। साहित्य ही से हमें जातियों के आध्यात्मिक, मानसिक और नैतिक विकास का ठीक ठीक पता मिलता है।

किसी काल के बहुत से कवियों या लेखकों की कृतियों के साधारण अध्ययन से भी हमें इस बात का पता लग जाता है कि कुछ ऐसी बातें हैं जो उन सबकी कृतियों में एक-सी पाई जाती हैं, चाहे और अनेक बातों में विभिन्नता ही क्यों न हो।

उनके अध्ययन से ऐसा प्रकट होता है कि विभिन्न होने पर भी उनमें कुछ समता है। जब हम तुलसीदासजी के ग्रन्थों पर विचार करते हैं, तब हमारा मन हठात् सूरदास, केशवदास, ब्रजवासीदास आदि के ग्रंथों पर चला जाता है, तब हम इन सबकी तुलनात्मक जाँच करने और इनकी समता या विभिन्नता का ज्ञान प्राप्त करने में लग जाते हैं। यह संभव है, और कभी कभी देखने में भी आता है, कि एक ही वंश या माता-पिता की संतति में जहाँ प्रायः कुछ बातें समान होती हैं, वहाँ कोई ऐसी भी संतति जन्म लेती है जिसमें एक भी गुण सबके जैसा नहीं होता, उसमें सभी बातों में औरों से भिन्नता पाई जाती है। यही बात किसी निर्दिष्ट काल के किसी विशेष ग्रंथकार में भी हो सकती है, पर साधारणतः उस काल के अधिकांश ग्रंथकारों में कोई न कोई सामान्य गुण होता ही है। इसी सामान्य गुण को हम उस काल की प्रकृति या भाव कह सकते हैं।

हिंदी साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न भिन्न कालों में ठीक ठीक विभक्त नहीं कर सकते। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम-स्थान में तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढ़कर और छोटे छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच बीच में दूसरी छोटी छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का संबंध करा देती हैं, और कहीं

और वह अपने आदर्श आसन से गिर गई। कवि नायिकाओं का रूप-रंग वर्णन करने में ही अपना कौशल दिखाने लगे। वे आंतरिक भावों की निवृत्ति न कर सके, वे चरित्र-चित्रण और भावप्रदर्शन करना भूल गए। स्थूल दृष्टि के सामने जो कुछ आया, उसे शब्दाडंबर से लपेटने में ही वे अपनी कवित्व-शक्ति की चरम सीमा मानने लगे। इस प्रकार भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न प्रभावों और कारणों के पंजे में पड़कर साहित्य का रूप बदलता रहा, पर कविता-सरिता की धाराएँ बराबर बहती ही रहीं।

जिस काल में जो गुण या विशेषत्व प्रबल रहता है, वही उस काल की प्रकृति या भाव कहलाता है। इस भाव या प्रकृति को हम किसी निर्दिष्ट काल के कवियों की कृति के अध्ययन से निर्धारित कर सकते हैं, पर हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी साहित्य का इतिहास निर्दिष्ट कालों में कठिनता से बाँटा जा सकता है। साहित्य का जो प्रभाव आरंभ से बहा, वह बहता ही गया, भिन्न-भिन्न कालों में उसके रूप में परिवर्तन तो हुए, पर प्रवाह का मूल एक ही सा बना रहा।

किसी निर्दिष्ट काल की प्रकृति जानने में हमें कवि-विशेष ही की कृति पर अवलंबित न होना चाहिए, चाहे वह कवि कितना ही बड़ा, कितना ही प्रभावशाली और काव्य-कला के ज्ञान में कितना ही संपन्न क्यों न हो। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कवि की तत्कालीन सामाजिक

जीवन और सांसारिक परिस्थिति से बचा नहीं रह सकता; उसकी सत्ता स्वतंत्र नहीं हो सकती, वह भी जाति के क्रमिक विकास की श्रृंखला के बंधन के बाहर नहीं जा सकता। इस बात को ध्यान में रखने से ही हम उसके ग्रंथों के अध्ययन से जातीय विकास का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। भूषण और हरिश्चंद्र के ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करके हम जान सकते हैं कि उनके समयों की स्थिति और तत्कालीन जातीय सत्ता में कितना अंतर था।

अतएव कवि अपने समय की स्थिति के सूचक होते हैं। उनकी कृतियाँ उनके समय का प्रतिबिंब दिखाने में आदर्श का काम देती हैं। उनके आश्रय से हम अपने अनुसंधान में अग्रसर हो सकते हैं और उन्हें आधार मानकर साहित्य के इतिहास को भिन्न भिन्न कालों में विभक्त कर सकते हैं। यह काल-विभाग अपने अपने समय के कवियों के विशेष विशेष गुणों के कारण स्पष्टतापूर्वक निर्दिष्ट किया जा सकता है कविता के विषय, विषय-प्रतिपादन प्रणाली, भाव-व्यंजना के ढंग आदि की ही गणना गुण-विशेषों में है। वे ही एक काल के कवियों को दूसरे काल के कवियों से पृथक् कर देते हैं। जैसे प्रत्येक ग्रंथ में उसके कर्त्ता का आंतरिक रूप प्रच्छन्न रहता है और प्रत्येक जातीय साहित्य में उस जाति की विशेषता छिपी रहती है वैसे ही किसी काल के साहित्य में परोक्ष रूप से उस काल की विशेषता भी गर्भित रहती है। किसी काल के सामाजिक जीवन की विशेषता अनेक रूपों में व्यंजित

होती हैं, जैसे राजनीतिक संघटन, धार्मिक विचार, आध्यात्मिक कल्पनाएँ आदि। इन्हीं रूपों में से साहित्य भी एक रूप है, जिस पर अपने काल की जातीय स्थिति की छाप रहती है। उसका विचारपूर्वक अध्ययन करने से वह छाप स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि किसी कवि या ग्रंथकार पर तीन मुख्य बातों का प्रभाव है। वे ही उसके कृतिजन्य रूप को स्थिर करने में सहायक होती हैं। वे तीन बातें हैं जाति, स्थिति और काल। जाति से हमारा तात्पर्य किसी जन-समुदाय के स्वभाव से है। स्थिति से तात्पर्य उस सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और प्राकृतिक अवस्था से है जो उस जन-समुदाय पर अपना प्रभाव डालती है और काल से तात्पर्य उस समय के जातीय विकास की विशेषता से है। स्मरण रहे कि यद्यपि ये तीनों ही बातें जातीय साहित्य के विकास और ग्रंथकारों के विशेषत्व के उपादान में साधारणतः सहायक हो सकती हैं और होती भी हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि सभी ग्रंथकार इन्हीं तीन शक्तियों के अधीन या इनसे प्रेरित होकर ग्रंथ-रचना करते हैं। क्योंकि यदि हम यह मान लेंगे, तो किसी कवि या ग्रंथकार की व्यक्तिगत मनोव्यथा विशेषता का सर्वथा लोप हो जायगा और जहाँ इसका लोप हुआ, वहीं वास्तविक काव्य का भी लोप हो गया, समझिए। साधारण लेखकों की अपेक्षा प्रतिभाशाली लेखकों के लेखों में कुछ विशेष प्रकार के गुण पाए

जाते है। अतएव यदि पूर्व निर्दिष्ट सिद्धांत सर्वत्र चरितार्थ हो सकेगा, तो महाकवियों और प्रख्यात लेखकों की विशिष्टता ही नष्ट हो जायगी। यह अवश्य सच है कि साधारण श्रेणी के ग्रंथकार या कवि अपने समय की प्रकृति या स्थिति के द्योतक होते हैं, पर सच्चे प्रतिभावान् लेखक या कवि के लिये यह बात आवश्यक नहीं है। संभव है कि उसमें वह प्रकृति या स्थिति भी लक्षित होती हो; पर उसकी विशेषता तो इसी में है कि वह किसी अभिनव प्रकृति, स्थिति [illegible] ाव का निर्माता हो, उस पर अपना प्र[illegible]
प्रतिष्ठा करने में [illegible]

इतिहास प्रस्तुत करना चाहिए।

जिस प्रकार किसी ग्रंथकर्त्ता की कृतियों के अध्ययन में तुलनात्मक और आनुपूर्व्य प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी जाति के साहित्य के अध्ययन में भी हमें उन्हीं प्रणालियों के अनुसरण की आवश्यकता है। इन प्रणालियों का अवलंबन किए बिना काम ही नहीं चल सकता, तथ्यांश जाना ही नहीं जा सकता। जब हम किसी निर्दिष्ट काल के साहित्य का मिलान किसी दूसरे निर्दिष्ट काल के साहित्य से करते हैं, तब हम उन दोनों में प्रायः कुछ बातें तो समान और कुछ विभिन्न पाते हैं। आपस में उनका मिलान करना और उस मिलान का ठीक ठीक फल समझना हमारा कर्तव्य है। समय के प्रभाव से विचारों, भावों और आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है। साथ ही उन्हें प्रदर्शित या व्यंजित करने के ढंग में भी परिवर्तन हो जाता है। कभी कभी तो ऐसा जान पड़ने लगता है कि हमारे पूर्ववर्ती ग्रंथकारों में और हममें बड़ा अंतर हो गया है। साहित्य का अध्ययन यही काम देता है। इसी से इस परिवर्तन या अंतर और इस अंतर का कारण समझ में आता है। यही हमें यह जानने में समर्थ करता है कि इन परिवर्तनों के आधारभूत कौन कौन से कारण या अवस्थाएँ हैं और विभिन्न होने पर भी कैसे वे एक ही विचार-शृंखला की कड़ियाँ हैं, जिन पर निरंतर काम में न आने से जंग-सा लग गया है और जो ढीली भी प्रतीत होती हैं।

जब दो जातियों में परस्पर संबंध हो जाता है—चाहे वह संबंध मित्रता का हो चाहे अधीनता का हो, चाहे व्यवहार या व्यवसाय का हो—तब उनमें परस्पर भावों, विचारों आदि का विनिमय होने लगता है। जो जाति अधिक शक्तिशालिनी होती है, उसका प्रभाव शीघ्रता से पड़ने लगता है, और जो कम शक्तिशालिनी या निःसत्त्व होती है, अथवा जो चिरकाल से पराधीन होती है, वह शीघ्रता से प्रभावान्वित होने लगती है। पराधीन जातियों में मानसिक दासत्व क्रमशः बढ़कर इतना व्यापक हो जाता है कि आश्रित लोग शासकों की नकल करने में ही अपने जीवन की कृतकृत्यता समझते हैं। अविकसित जातियाँ दूसरी जातियों की सभ्यता का मर्म समझने में समर्थ नहीं होतीं। उन पर तो शारीरिक शक्ति का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। सम शक्तिशालिनी जातियों में यह विनिमय परस्पर हुआ ही करता है। अथवा यह कहना चाहिए कि जो बात जिस जाति में स्पृहणीय या उत्कृष्ट होती है, उसे दूसरी जाति ग्रहण कर लेती है। इन बातों को ध्यान में रख कर हम किसी साहित्य के अध्ययन से यह जान सकते हैं कि कहाँ तक किस जाति के साहित्य पर विदेशी प्रभाव पड़ा है। भारतवर्ष के पश्चिमी अंचल में पहले पहल यूनानियों का आगमन हुआ और बहुत समय तक उनका आवागमन होता रहा। अतएव उनकी सभ्यता और कारीगरी का प्रभाव यहाँ की ललित कलाओं पर बहुत अधिक पड़ा है. जहाँ यूनानियों का प्रभाव अधिक

व्यापक और स्थायी था, वहाँ की ललित कला के रूप में विशेष परिवर्तन हुआ। उस समय के उस परिवर्तन के अवशिष्ट चिह्न अब तक, विशेष करके मूर्तियों में, दिखाई पड़ते हैं। गांधार प्रदेश में मिली हुई पुरानी मूर्तियां यूनानी प्रभाव से अधिक प्रभावान्वित पाई जाती हैं। उनकी काट-छाँट तथा आकृति में जो सुंदरता दृष्टिगोचर होती है, वह दक्षिणी या मध्य भारत के निर्मित मूर्तियों में नहीं दिखाई पड़ती। मुसलमानों के राजत्व काल में भारतवासियों पर उनका भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव सैकड़ों वर्षों तक बराबर पड़ता ही गया। फल यह हुआ कि वह अधिक स्थायी और व्यापक हुआ। अन्य वस्तुओं या विषयों पर पड़े हुए इस प्रभाव का विशेष विवेचन हम नहीं करते। हम केवल अपनी काव्य-कला का ही निदर्शन करते हैं। उसकी स्थूल विवेचना से भी हमें यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उसमें शृंगार-रस का जो इतना आधिक्य है, वह बहुत कुछ इसी प्रभाव का फल है। अँग्रेजों के आगमन, संपर्क और सत्ता का प्रभाव उससे भी बढ़कर पड़ा। हमारे नव-साहित्य का विकास तो उन्हीं के संसर्ग का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हमारे विचारों, मनोभावों, आदर्शों और संस्थाओं पर भी उन्होंने अपने प्रभाव की स्थायी छाप लगा दी।

शीघ्रता से दूर दूर तक व्यापक हो गया। जब जागृति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, तब एक ओर तो इस प्रभाव का अवरोध होने लगा और दूसरी ओर उसके पृष्ठपोषक उसे अस्थायी बना रखने के लिए उद्योगशील होने लगे। साहित्य का अध्ययन करने वाले, उसका मर्म समझने वाले तथा उसके विकास का सच्चा स्वरूप पहचानने वाले के लिये यह परम आवश्यक है कि वह विदेशी प्रभाव की विवेचना करे और देखे कि प्रभाव साहित्य पर किस प्रकार पड़ा और किस प्रकार उसने यहाँ के लोगों के आदर्शों, विचारों, मनोभावों और लेखनशैली में परिवर्तन कर दिया। उसे यह भी देखना और बताना चाहिए कि इस परिवर्तन के कारण हमारे काव्य-साहित्य में कहाँ तक चारुता या विरूपता आई। अतएव साहित्य के अध्ययन में यह भी आवश्यक है कि हम उन जातियों के साहित्य के इतिहास से अभिज्ञता प्राप्त करें जिन से हमारा संबंध हुआ है। ऐसा किए बिना हमारा विवेचन अपूर्ण और अल्पोपयोगी होगा।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, लेखन-शैली विचारों के प्रकाशन का बाहरी रूप है, अथवा यह कहना चाहिए कि वह भाषा के प्रयोग का व्यक्तिगत विशेष ढंग है। समय पाकर जैसे विचारों में परिवर्तन हो जाता है, वैसे ही उनके व्यक्त करने की शैली या ढंग में भी परिवर्तन होता है। साहित्य की अन्तरात्मा पर समय, स्थिति, सम्पर्क आदि का प्रभाव पड़ने पर उसमें परिवर्तन होना अनिवार्य है। किसी निर्दिष्ट काल का कोई ग्रंथकार या कवि उस काल की विशेषता के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। इस दशा में उन विचारों या भावों के व्यक्तीकरण का ढंग भी उस प्रभाव की पहुँच की सीमा के बाहर नहीं रह सकता। उसे भी अपना रूप बदलना ही पड़ता है। जैसे किसी कवि की कृति की अन्तरात्मा पर

उसकी व्यक्तिगत सत्ता की छाप कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो, उस काल की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, वैसे ही उसकी रचना का बाहरी रूप भी उसके प्रभाव से नहीं बच सकता। इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए हम उदाहरणवत् लल्लूलाल और हरिश्चन्द्र के गद्य को उपस्थित करते हैं। इन दोनों के गद्य को ध्यानपूर्वक पढ़कर विवेकशील पाठक स्पष्ट देख सकते हैं कि लेखनशैली में कितना अन्तर है। यह सच है कि लल्लूलाल ने ब्रजभाषा के गद्य और ब्रजमण्डल की बोली का सहारा लेकर गद्य लिखने का प्रयत्न किया है और हरिश्चन्द्र को लल्लूलाल के पीछे के और अपने से ७०-८० वर्ष पहले के गद्य के विकसित रूप का सहारा मिला है। पर यहाँ हमारा [illegible] इन कारणों पर विचार करना नहीं है

(९) हमारे साहित्य की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिये, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात प्रतिघात दिखाये गये हैं; पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत

बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है, जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ युरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसीलिये देख पड़ते हैं। यदि आजकल दो-चार नाटक ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और युरोपीय आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इति-श्री हो चुकी थी; पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रति-निधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिये साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं, तब उनमें भी साहित्य की भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान की मूर्ति उस समय की है, जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरांत अस्थि-पञ्जर मात्र ही रहे होंगे, पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनंद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा माया-जन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानवजीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और

कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है; अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं; परन्तु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई; परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित-सी हो गई है। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुंदर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक दोष रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं, एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की हुई हिंदी के शृंगारी कविताओं के रूप में। हिंदी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" को तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं, तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से हो सही, सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यंत निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलंबन मानकर हमारे

शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला, वह समाज के लिये हितकर न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं: पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो: पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इँगलैंड तथा आयरलैंड जैसे जलावृत द्वीप हैं तो चीन जैसा विस्तृत भूखण्ड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से संबंध होता है इसी को हम साहित्य

की देशगत विशेषतायें कहते हैं।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिये आकर्षक होती हैं; परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानववृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण-से झरने अथवा ताड़-से लम्बे-लम्बे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है; वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिये जैसी सुंदर वस्तुओं

का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्यज्ञान उच्च-कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्यरूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-राशि; अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता: अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किंतु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति-संबंधी रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिये प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तर-कालीन विचार-धारा के कारण हिंदी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं; परंतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों

की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संघटन अथवा छंद-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं; परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अँगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं; परंतु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अंतर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिये

वर्णात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीति-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिये हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर मात्रिक अथवा लघु मात्रिक आदि छंद-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है; परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक् नहीं है, जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती; क्योंकि ये सब बातें थोड़ी-बहुत अंतर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।